विंध्याटवी के अंचल में

लेखक

श्रीप्रयागदत्त शुक्ल

——:o:——

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सं० २००२ वि०

स्टिफ़ जिल्द १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, १, जॉसटनगंज, प्रयाग
३. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
४. लखनऊ-ग्रंथागार, लखनऊ
५. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
६. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
७. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
८. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
९. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मद्रास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

उपहार



ऑनरेबुल जस्टिस

डॉ० सर एम्० बी० नियोगी,

आपकी दी हुई यह वस्तु

आपको ही समर्पित है।

प्रयागदत्त शुक्ल

PREFACE

BY

The Hon. Mr. JUSTICE W. R. PURANIK,
B.A., LL.B.
Vice-Chancellor, Nagpur University.

I have read the proofs of this interesting book by Pandit Prayag Dutta Shukla of Nagpur. The author has rendered a great service to the Hindi-knowing public by collecting together in this small book information about the serveral aboriginal tribes of C. P. and Berar. There has been a controversy whether these tribes can be treated as Hindus. Several eminent jurists including my friend Sir M. B. Niyogi have come to the conclusion that Gonds are Hindus. History of each of such tribes as given in this book will enable the public to know their culture and their habits and enable it to decide for itself how far the claim is justified. Mr. Prayag Dutta Shukla's efforts in placing the history of these tribes before the Hindi public is commendable. I have not the least doubt that the book will be widely read and will lead to better understanding. I wish Mr. Shukla success.

दो शब्द

हिंदुओं के विशाल धर्म के अंतर्गत सैकड़ों जातियाँ समाविष्ट हैं। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की रूढ़ियाँ, कुल-धर्म, देवता-पूजन प्रचलित हैं। भारतीय दृष्टिकोण से जंगल के निवासी (अरण्यवासी) आज तक हिंदू ही माने जाते हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक धर्मशास्त्र और जातीय रस्म-रिवाजों के आधार पर जातीय पंचायतें अपने-अपने समाज का नियंत्रण करती आ रही हैं। अभी कुछ वर्षों से विदेशी विद्वानों ने और खिस्ती धर्म-प्रचारक-पादरियों ने पहाड़ी जातियों को हिंदुओं से पृथक् मानने के प्रचार का यत्न जारी किया है। इधर सरकार ने भी आदिवासी जातियों को हिंदू से पृथक् जाति मान लिया है। संभव है, ऐसा करने में उनका कोई राजनीतिक हेतु हो। इस पर भी लाखों अरण्यवासी मर्दुमशुमारी में अपने को हिंदू ही लिखवाते हैं। हमने इस छोटी-सी पुस्तक में यह बतलाने की चेष्टा की है कि अरण्यवासी (Aboriginals) हिंदू हैं। स्व० डॉ० हीरालालजी ने मध्य-प्रांत की जातियों के संबंध में भी खोज-पूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। उनके संपर्क में रहने से लेखक को कुछ अन्वेषण का अवसर मिला। उसी संकलित विवरण का संक्षिप्त रूप आज मैं हिंदी-संसार के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ—खासकर विद्यार्थियों के लिये। इसमें मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय पाठक ही करें।

मुझे जो कुछ कहना है, वह मैं विषय-प्रवेश में लिख रहा हूँ, इसलिये उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। इस पुस्तक की प्रस्तावना माननीय जस्टिस पुराणिक साहब (वाइस-चांसलर नागपुर-युनिवर्सिटी) ने लिख दी, इसके उपलक्ष्य में मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। जिन लेखकों की अमूल्य कृतियों, लेखों, उद्धरणों से मुझे इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली

है, उन्हें मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। (ग्रंथ और ग्रंथकारों की सूची हमने अन्यत्र दे दी है।)

अंत में पुस्तक के प्रकाशक हिंदी-संसार के प्रसिद्ध कवि श्रीमान् दुलारे-लालजी, अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा कर्तव्य है। मैं इस प्रकाशन के लिये उनका अंतःकरण से आभार मानता हूँ। मुझे पूर्ण आशा है, इस विषय में अभिरुचि रखनेवाले पाठक तथा विद्यार्थी इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठावेंगे।

विजयादशमी, सं० २००१
नागपुर } प्रयागदत्त शुक्ल

वक्तव्य

[द्वितीयावृत्ति पर]

हर्ष की बात है, हिंदी-संसार ने इस छोटी-सी पुस्तक का ख़ूब आदर किया, जिसके परिणाम-स्वरूप इसकी हम दूसरी आवृत्ति निकाल रहे हैं। इस गुण-ग्राहकता के लिये हम उसके कृतज्ञ हैं।

दुलारेलाल

विंध्याटवी के अंचल में —



श्रीपं० प्रयागदत्त शुक्ल

विषय-सूची

प्रथम किरण

आदिग

मध्य-प्रांत और बरार (नाग, विदर्भ, कोशल और चेदि-राज्य)-प्रांत

प्रांत-परिचय

की लंबाई ५०० मील और चौड़ाई ५० मील से कम है । अर्थात् इस प्रदेश का फैलाव ६६,६२२ वर्गमील है, जो समस्त भारत का १४वाँ हिस्सा है। पूर्व में उड़ीसा-प्रांत (उड़ियाना या झारखंड), पश्चिम में खान देश (महाराष्ट्र), दक्षिण में हैदराबाद-रियासत और आंध्र-प्रांत का कुछ भाग तथा उत्तर में बुंदेलखंड की रियासतें और सूबा हिंद (यू० पी०)का ललितपुर-ज़िला है ।

भौगोलिक दृष्टि से हमारा प्रांत ६ स्वाभाविक विभागों में बँटा हुआ है—

(१) प्रथम विभाग—विंध्यमेखला की उच्च भूमि, जो गंगा-यमुना की घाटियों की ओर ढालू है । पुरातन युग में विंध्य-पर्वत का वह अंश, जहाँ से बेतवा और बनास-नदियाँ उद्गम पाती हैं—'पारियात्र' कहलाता था। उसके पूर्व में ढसान (प्राचीन दशार्ण) देश है, और यहीं से केन और टोंस-नदियाँ चल पड़ती हैं ।

(२) दूसरा विभाग—नर्मदा-नदी (मेकलसुता या रेवा) के दक्षिण में—वैनगंगा (बाणगंगा-नदी) से लेकर उड़ियाना तक का पर्वतीय भाग—सतपुड़ा (सप्तपुत्र या सप्तपुर्त) के पहाड़ों से व्याप्त है । उसे ऋक्ष-पर्वत भी कहते हैं ।

(३) तीसरा विभाग—नर्मदा-ताप्ती का कछार जो स्वभावतः उपजाऊ है । पर्वतों से नीचे होने के कारण यह तंग मैदान सपाट—खुला—नहीं,

प्रत्युत ऊँचा-नीचा और ऊबड़-खाबड़ है। सतपुड़ा की उच्च भूमि अरण्यों से व्याप्त होने के कारण आदिवासियों (पहाड़ी जातियों) की क्रीड़ा-स्थली है।

(४) नागपुर (नाग-राज्य का द्योतक) और छत्तीसगढ़ (दक्षिण-कोशल) का मैदान, जो वैनगंगा और वर्धा-नदियों की ओर ढालू है (यह चतुर्थ स्वाभाविक विभाग है)।

(५) विंध्य और सप्तपुत्रा की जो पर्वत-श्रेणी एक दूसरे से गठबंधन करती है—वह मेकल-श्रेणी नर्मदा और सोन (सुवर्ण)-नदियों का पिता है। मेकल के उत्तर में बघेलखंड (कारूष-देश) और छत्तीसगढ़ के पूर्व में झारखंड (छोटा नागपुर) है। बघेलखंड के दक्षिण में महानदी (चित्रोत्पला) का उत्तरीय भाग छत्तीसगढ़-कमिश्नरी कहलाता है। जबलपुर-कमिश्नरी चेदि-राज्य या डाहल-राज्य के अंतर्गत थी। नागपुर-कमिश्नरी में पहाड़ी जातियों का राज्य था। इसलिये मुग़ल-काल में समस्त मध्य-प्रांत "गोंड़वाना" कहलाता था, क्योंकि उस समय यहाँ चार प्रबल गोंड-राज्य थे—खेरला (बैतूल), देवगढ़, चाँदा और गढ़ा। यह प्रांत भारत का नाभिकेंद्र होने से इसका वर्तमान नाम मध्य-प्रांत रक्खा गया, जिसकी राजधानी नागपुर है। इस प्रांत का पाँचवाँ विभाग चाँदा बस्तर की अरण्यमय पहाड़ी भूमि है।

छठे विभाग में बरार के अंतर्गत सह्याद्रि पर्वत और अजंता-शृंखलाएँ फैली हुई हैं। उसका पूर्वी अंश चांदोर सातमाल कहा जाता है। महानदी गोदावरी और वैनगंगा-नदियों के मध्य में महेंद्रगिरि स्थित है। इसी विभाग में बरार-कमिश्नरी (अमरावती, अकोला, यवतमाल, बुलढाना चार ज़िले) हैं।

विषय-प्रवेश

भारत बहुत-से देशों और जातियों का समुच्चय है। यहाँ नाना संस्कृतियों का संगम भी हो गया है। उस पर भी भारत की विविध सहस्रों जातियों की मुख्य दो नस्लें आर्य और द्रविड़ हैं। संसार में सबसे पुराना साहित्य 'ऋग्वेद' आर्यों का है। उन-(हिंदुओं) का धर्म और विश्वास है कि वे इसी देश (भारत) के निवासी हैं; किंतु आधुनिक खोजों से जाना गया है कि ये आर्य* वस्तुतः भारत के आदिवासी नहीं हैं। ईस्वी सन् से कम-से-कम दो-तीन सहस्र वर्ष पूर्व इस देश में आर्य पहलेपहल (मध्य एशिया से आकर) आविर्भूत हुए थे। उनके आने के पूर्व जो जातियाँ भारत में बसती थीं, उनमें से कुछ जातियाँ तो अत्यधिक सुसंस्कृत थीं और कुछ अत्यधिक असंस्कृत। इन दोनो नस्लों (आर्य-द्रविड़) का आगे चलकर सम्मिश्रण भी खूब हो गया, और उनमें भी थोड़ी-सी छौंक मुंडा और शाबर-जातियों की हो गई हैं।

आर्यों का संघर्ष

आर्य भाषाएँ जिस वंश को सूचित करती हैं, वह संसार में सबसे महान्

---

* आर्य—विद्वान् लोग 'अर' धातु से आर्य-शब्द की उत्पत्ति मानते हैं, जिसका अर्थ 'भूमि-कर्षण' होता है। योरपीय भाषा में 'अर' धातु से 'हल' शब्द बनाते हैं। आर्य-शब्द का अर्थ वास्तव में श्रेष्ठ या विज्ञ है। सायण के 'अरणिय'-शब्द का अर्थ ही आर्य-शब्द का मूल-अर्थ है। पारसियों के अवस्ता में 'आर्य' को 'ऐर्य' कहा है।

है। प्राचीन पारसी, यूनानी, लॅटिनी, केल्ट, ट्यूटिनी, जर्मन या स्लाव आदि संसार की प्रधान भाषाओं का घनिष्ठ नाता आर्यों की प्राचीन संस्कृत से था, और इसी कारण विद्वान् लोग इन भाषाओं को 'आर्य-वंश' की कहते हैं।

आर्य भारत में कहीं से भी आए हों, किंतु उन्होंने पंजाब से लेकर गंगा-यमुना के किनारे तक अपनी सभ्यता का मूल-केंद्र स्थापित किया। उनको भारत की अनार्य जातियों से युद्ध करना पड़ा, जिसका उल्लेख ऋग्वेद के कई स्थलों पर किया गया है। आर्य-अनार्यों के संघर्षों के अनेकों रोचक वर्णन (जो भारत में सहस्रों वर्षों तक चलते रहे) पुराणादि आर्य-ग्रंथों में मिलते हैं। विजयी और पराजित लोगों में प्रीति होना स्वाभाविक नहीं। विजयी आर्य-जाति अपने नए जीते हुए देश में निरंतर युद्ध करके अपनी रक्षा करती थी, और धीरे-धीरे कृषि की सीमा बढ़ाती, नए ग्राम-नगर बसाती, प्राथमिक अरण्यों में नई बस्तियाँ बनाती और अपनी सभ्यता फैलाती थी। आर्यों का यही क्रम रहा—वे एक दूसरे को (आर्य और अनार्य दोनो ही) घृणा की दृष्टि से देखते थे, और जब कभी अवसर पाते, तो उनके झुंड को मार डालते थे। उन्हें भूँकनेवाले कुत्ते तथा विना भाषा के मनुष्य कहते थे, और उन्हें मनुष्य नहीं, वरन् पशु-श्रेणी में गिनते थे—समझते थे, वे मारे जाने योग्य हैं। उधर दस्यु—अनार्य या असुर* भी बदला लेने में नहीं चूकते थे। प्रायः यह देखा गया है कि वे आर्यों की सभ्य वीरता के आगे हार जाते थे, किंतु नदियों की प्रत्येक मोड़ और प्रत्येक क़िले के निकट बदला लेने

---

* असुर—यह शब्द आर्य-विरोधी और मनुष्य की ताक़त के बाहर कार्य करनेवालों के लिये उपयोग में लाया गया है। असुर ही सुर-विरोधी दैत्य कहलाते थे। आज इस नाम की एक जाति सिरगुजा-रियासत में बसती है, जो लोहा गलाकर पेट पालती है।

के लिये लगे रहते और घात पाकर पथिकों को लूट लेते थे। ग्रामों में पहुँचकर उपद्रव मचाते, पशुओं को मार डालते या चुरा ले जाते, स्त्रियों का हरण करते, और कभी-कभी बड़े-बड़े गिरोह बाँधकर आर्यों पर आक्रमण करते थे। वे प्रत्येक इंच भूमि के लिये उस कठोर दृढ़ता के साथ लड़ते थे, जो असुर या अनार्य-जातियों का एक ख़ास गुण है। वे आर्यों के यज्ञादिक कर्मों में बाधा डालते, उनके देवताओं का अनादर करते, तथा उनकी संपत्ति लूट लेते थे। इस पर भी आसुरी बाधाओं को हटाते हुए आर्यों ने अपनी संस्कृति विस्तारित की, और क्रमशः उनसे मेल-मिलाप भी बढ़ाया। उत्तरापथ में (विंध्य-पर्वत के ऊपर का उत्तरीय भारत) आर्यों ने पांचाल, कुरु, कोशल, काशी और विदेह के समान कुछ राष्ट्र (राजवंश) स्थापित किए। इसी प्रकार दक्षिणापथ (दक्षिण) में माहिष्मती, विदर्भ-राज्य स्थापित हुए। कई अनार्य-जातियों ने धीरे-धीरे आर्यों की अधीनता स्वीकार करके शांति के साथ जीवन बिताना शुरू किया, और जो अनार्य कट्टर थे, उन्होंने आर्य-सभ्यता की बढ़ती हुई सेना से भागकर पर्वतों और अरण्यों का आश्रय लिया, जहाँ उन अनार्यों की संतानें आज भी पाई जाती हैं।

ऋग्वेद में दस्युओं का उल्लेख आया है। उनमें से अधिकांश ने आर्य-जाति का प्रभुत्व स्वीकार करके आर्य-सभ्यता और भाषा को भी अपनाया। हिंदुओं के धर्म-ग्रंथों से पता चलता है कि जिन शूद्रों ने आर्यों की रीति-नीति और धर्म ग्रहण नहीं किया, उनका अन्न खाना योग्य नहीं समझा गया। क्रमशः शूद्रों में दो भेद किए गए— जिन्होंने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्वीकार की, और शरण गए, वे भोज्यान्न (अन्न ग्रहण करने योग्य) माने गए, और जिन्होंने ऐसा नहीं किया, वे अभोज्यान्न कहलाए। भिन्न-भिन्न समय के स्मृतिकारों ने उस पर विवेचन भी किया है। पड़ोसी होने से परिणाम यह हुआ कि आर्यों का व्यवहार दस्युओं के प्रति क्रमशः सौम्य होता चला गया।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का संगम

आज हिंदुओं के अंतर्गत प्रचलित देवतागण भी अनार्यों के देवता हैं। यह सब सहवास से होता आया है। इसलिये विद्वान् लोग भारत को भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का संगम-स्थल कहते हैं। छान-बीन करने पर ये भेद साफ़ दिखलाई देते हैं। उदाहरणार्थ—वैदिक आर्यों के मिलन का स्थल यज्ञ था, और अवैदिकों का तीर्थ। तीर्थवस्तु यह वेदबाह्य है। इसी कारण वेद-विरोधी मत को तैर्थिक कहते हैं। गंगा-यमुना का माहात्म्य आर्यों के आगमन के पूर्व का है। नदी, वृक्ष, जीव-जंतु के पूजक अनार्य थे, और उसी के स्मारक उनके कुलों के नाम भी जीव-जंतु, वृक्ष-लता, नदी, पहाड़ों पर पाए जाते हैं। त्योहारों को लीजिए—होलिकोत्सव (वसंतोत्सव) अनार्य-त्योहार है, इसलिये उसका नाम शूद्रोत्सव रख सकते हैं। विवाह के अवसर पर सिंदूर-दान का महत्त्व अनार्य-जातियों में पाया जाता है। कई बातें खोज करने से मिल जाती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे बहुतेरे देवता, तीर्थ, उत्सवादि अनार्य हैं, और विजातियों ने भी उन्हें अपनाया।

कलांतर में आर्य और अनार्य-संघर्ष शांत होते गए। सभी जातियाँ भारत को अपनी मातृभूमि समझकर रहने लगीं। फल यह हुआ कि आर्यों ने भी अनार्यों की कई बातें अपने यहाँ व्यवहृत कीं। प्रकृति के नियमानुसार सामाजिक आदान-प्रदान भी होता रहा। बहुत-सी अनार्य-जातियाँ हिंदुओं में समाविष्ट हो गईं, और जिन्होंने अपनी संस्कृति की रक्षा करने की कट्टरता दिखलाई, वे अनार्य आज भी जंगल में मंगल करते हैं। पुराण-काल में (ईसा से ५ सदी पूर्व) भारत विंध्य-पर्वत द्वारा दो भागों में विभाजित आर्य और द्रविड़ हुआ, उसी का नाम उत्तरापथ और दक्षिणापथ है। यद्यपि समस्त भारत का एक ही राष्ट्र-धर्म था, तथापि रस्म-रिवाज़, खान-पान, बोल-चाल भिन्न-भिन्न था। उत्तर-भारत में आर्य-संस्कृति शुद्ध न रही—उसमें भी द्रविड़ों की छटा देखने में आती है,

और क्रमशः यह सम्मिश्रण बढ़ता ही गया। अँगरेज़ों के आगमन तक भारत की विविध जातियाँ हिंदुओं के अंतर्गत थीं। प्रत्येक जाति का शासन हिंदू-धर्म-शास्त्र और जातीय पंचायतों द्वारा होता था। पर अब तो सभी अपना-अपना राग अलग-अलग अलाप रहे हैं।

इस देश की नस्लें

अँगरेज़ी शासन में विद्वानों ने मनुष्यों की नस्लों तक को खोज डाला है। उन्होंने समस्त भारत को चार नस्लों में बाँटा है—(१) आर्य, (२) अनार्य [गोंड, भील, कोल, कोरकू, कोरवा आदि पहाड़ी (जंगली) जातियाँ], (३) आर्य-द्रविड़ जातियों से उत्पन्न मिश्रित जातियाँ, (४) मुसलमान। इन्हीं भेदों को मानव-तत्त्व के विद्वानों ने ७ भागों में बाँट दिया है—(१) तुर्क-ईरानी-वंश, (२) हिंदी आर्य, (३) शक-द्रविड़, (४) आर्य-द्रविड़, (५) मंगोल-द्रविड़-वंश, (६) मंगोलियन-वंश, (७) शुद्ध द्राविड़ी।

जातियों की खोज में भाषा-शास्त्र का भी सहारा लेना पड़ता है। वर्तमान आर्य-परिवार की भाषाएँ—हिंदी- पंजाबी, सिंधी, नेपाली, बँगला, बिहारी, उड़िया, आसामी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी—उन्नतिशील हैं। द्राविड़ी वंश की तामिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़, तुलु, कोडगू, तोडा, कोटा कुरख, गोंडी, माल्तो, कुई, कोलमी, ब्राहुई अनेकों भाषाएँ और बोलियाँ हैं। तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम भाषाएँ उन्नतिशील हैं। उनमें संस्कृत की प्रचुरता अधिक है, किंतु वे सब उधार ली गई जान पड़ती हैं, क्योंकि उस भाषा के मूल-धातुओं और व्याकरण के ढाँचे का संबंध संस्कृत-भाषा से नहीं है, उनका सीधा नाता ब्राहुई, गोंड, उराँव, कोल माल्तो आदि द्राविड़ियों की बोली से है। द्राविड़ी-भाषा का पुराना साहित्य नहीं है, किंतु इस वंश की उन्नतिशील भाषाओं का जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, वह सभी संस्कृत से लिया गया है।

विद्वानों ने आर्य और द्राविड़ों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग मुंडा

नाम का स्थिर किया है । इस वर्ग की भाषा या बोलियाँ स्वतंत्र हैं । उनका कहना है, मुंडा-शब्द संताली बोली 'मांजही' से निकला है । उसके अंतर्गत कोलरी (कलेरियन), शाबरी और खेरवारी अनेकों जातियों की बोलियाँ आती हैं । कहते हैं, मुंडा-वंश के ही लोग भारत के आदि-वासी हैं, द्राविड़ी तो आर्यों के समान भारत में बाहर से आकर बसे हैं । द्राविड़ी और आर्यों के बाद उत्तर-पश्चिम की ओर अनेकानेक जातियाँ बाहर से आकर भारत में बस गई हैं । स्व० वैद्य ने 'एपिक इंडिया'-नामक ग्रंथ में ऐसी २४० जातियों की सूची दी है । उदाहरणार्थ शक, यवन, आभीर, नाग, क्षत्रप, हूण आदि । इन जातियों ने हिंदुओं की संस्कृति को अपनाया, और आज वे विशाल भारतीय समाज में समा-विष्ट हैं ।

मानव-शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न जातियों की खोज करने के लिये कुछ मोटी-मोटी कसौटियाँ बना ली हैं । उसे अँगरेज़ी में Anthorometry अर्थात् 'मनुष्यमिति' कहते हैं । सबसे पहली कसौटी रंग की है । दूसरी खोपड़ी की नाप (कपाल-मान) Cephalic Index, तीसरा नासिका-मान (नाक की बनावट) Nasal Index, और चौथा 'अनवट-मान' Orbito-Nassal Index है । इन चारों के द्वारा मनुष्य-वर्ग की जाँच होती है । उक्त वर्गों के वर्गीकरण में इनका भी उपयोग किया गया है ।

हम इस पुस्तक में मध्य-प्रांत की द्राविड़ी (पहाड़ी) जातियों का विवरण दे रहे हैं, जिन्हें शहराती लोग जंगली जातियों के नाम से पुकारते हैं । द्राविड़ी-वंश का शुद्ध नमूना नीलगिरी-पर्वत की पहाड़ी जातियों में पाया जाता है । उनका क़द औसत से कम, रंग पक्का काला, केश घने, नाक चौड़ी, ओंठ मोटे, कपाल दीर्घ और हाथ कुछ बड़े होते हैं । मुंडा-वंश की पहचान इनके द्वारा करना अब कठिन हो गया है । कहते हैं, वे लोग मध्यम-कपाल के होते हैं । भाषा-शास्त्र से उनकी

पहचान हो जाती है, किंतु यह जाँच करना भी कठिन है। उदाहरण के लिये भीलों को लीजिए—उनका रूप-रंग, अनवट द्राविड़ी नस्ल की है, किंतु उनकी बोली आर्य-वंश की है। यही हाल आसाम की अहोमा-जाति का है। उनका भी रंग-रूप चीन के किरातों से साम्य करता है, किंतु उनकी बोली आर्य-वंश की है। हमारे मत से इस युग में आर्य-द्राविड़ी संस्कृतियाँ गंगा-यमुना के समान मिल गई हैं। अब तो रंग-रूप से जातियों का वर्गीकरण करना कठिन हो गया है। वर्णसंकरता भी ख़ूब बढ़ गई है। इसलिये एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यहाँ तक कहा है कि "समस्त भारतवासी अब एक ही नस्ल के हैं।"

मि० रिजली साहब ने 'पिपुल ऑफ् इंडिया'-नामक ग्रंथ में इसका अच्छा विवेचन किया है। उन्होंने यहाँ के जन-समूह को ७ वंशों में विभक्त किया है। यह सभी मानते हैं कि भारत में कई कबीले (Tribes) अन्य देशों से आकर यहाँ बसे हैं। वे जब यहाँ आए, तब अपने साथ बहुत कम स्त्रियों को लाए, और यहाँ बस जाने पर इसी देश की स्त्रियों को अपनाकर प्रजोत्पत्ति की। इस प्रकार की अनेकों जातियाँ आज भी भारत में वर्तमान हैं। यहाँ की जातियाँ अंत-र्विवाह बहिर्विवाह और अनुलोमवाले उपविभागों में विभक्त पाई जाती हैं। बहिर्विवाह जातियों में अधिकांश जातियाँ 'टोटेमिस्ट' हैं। प्राचीन काल से सभी देशों में एक विशेष चिह्न या लांछन से परिचय देने का रिवाज है। यह चिह्न उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति के श्रद्धा और सम्मान की चीज़ होती है। इसी को अँगरेज़ी में 'टोटेम' कहते हैं।

अँगरेज़ों के आगमन तक हमारे प्रांत में विंध्य की पर्वत-श्रेणियों में निवास करनेवाली पहाड़ी जातियाँ हिंदुओं की विविध जातियों में समाविष्ट होती थीं। हिंदुओं के स्मृति और पुराण-ग्रंथों में उनका विवेचन किया गया है। मुसलमानी शासन ने उसमें हस्तक्षेप नहीं किया, पर अब उन्हें अलग करने का यत्न हो रहा है। यह हिंदुओं के

लिये अहितकर है। आज तक मर्दुमशुमारी में भी सहस्रों पहाड़ी लोग अपने को हिंदू लिखवाते हैं। इसीलिये सरकार ने उनके दो भेद किए हैं—एक पहाड़ी और दूसरे हिंदू। उदाहरणार्थ हिंदू-गोंड़ हिंदू-उराँव, हिंदू-कोरवा आदि। यदि आप विश्लेषण करें, तो इनमें भी अन्य जातियों के समान तीन प्रधान लक्षण स्पष्ट दिखाई देंगे—

१. जन्म की प्रधानता

२. छुआछूत

३. अन्य जातियों से विवाह-संबंध का निषेध

ये बातें आपको पहाड़ी (जंगली) जातियों में भी मिलेंगी। उनका धर्म हिंदुओं से पृथक् धर्म नहीं। पहाड़ी जातियों की निम्न-लिखित जातियाँ मध्य-प्रांत में पाई जाती हैं—गोंड, अगरिया, अंध, बैगा, भैना, भरिया, भड्डा, परधान, ओझा, माड़िया, धोबा, भील, गढ़बा, हलबा, कोल, मुंडा, कोरकू, कोढ़खू, कोरबा, भूमिया, बिंझवार, नगारची, गौंडा, होलिया, लोहार, माना, कोलम, सँवारा, उराँव, पनका, भाइना, गोलार, घसिया, कँवर आदि।

द्वितीय किरण

गोंड और राजगोंड

मध्य-प्रांत और बरार में गोंडों की जन-संख्या काफ़ी होने से यह प्रांत मुसलमानी युग में गोंडवाना कहलाता था। मर्दुम-शुमारी में अधिकांश गोंड अपने को हिंदू लिखवाते हैं, इसलिये हिंदू-गोंड और मूल-गोंडों की संख्या पृथक्-पृथक् दी गई है।

जन-संख्या

मध्य-प्रांत-बरार (हिंदू-गोंड) जन-संख्या			१०,३६,६७३
केवल बरार में	,,	,,	६४,६०५
सी० पी० की रियासतों में		,,	२,०७,४०८
पहाड़ी (असली गोंड)		,,	१२,२४,४४१

इस प्रांत के अतिरिक्त इस जाति के लोग बिहार, उड़ीसा और आंध्र आदि प्रांतों में भी हैं। अर्थात् द्राविड़-वंश की यह एक प्रधान जाति है।

ऐतिहासिक विवरण

मुसलमान तवारीख़कारों ने इस प्रांत का नाम गोंडवाना रक्खा था। आईन-अकबरी में इसी नाम से उल्लेख किया गया है। वास्तव में यह नाम रखने का कारण सयुक्तिक था; क्योंकि उस समय इस प्रांत का शासन राजगोंडों द्वारा होता था। मुसलमानों के पूर्व यहाँ क्षत्रियों के उत्कर्ष और पतन होते रहे, किंतु पहाड़ी जातियाँ जंगलों में मंगल करती थीं।

रामायण से पता चलता है कि इस भू-भाग का नाम दंडकारण्य था। प्रसिद्ध विद्वान् मि० पार्टिगर ने अनुसंधान करके दंडक वन की सीमा बुंदेलखंड से लेकर कृष्णा-नदी तक निश्चित की है। ब्राह्मण लोग प्रतिदिन संकल्प करते समय इस वन की स्थिति इस प्रकार कहते हैं—

'दण्डकारण्ये देशे गोदावर्या उत्तरे तीरे।''

अर्थात् गोदावरी-नदी का उत्तरीय किनारा दंडकारण्य में है। रामायणादि ग्रंथों से पता चलता है कि यहाँ के अरण्यमय भू-भाग में असुर-गण विचरते थे, तिस पर भी यह प्रांत चार प्रबल राज्यों में (माहिष्मती, चेदि, दक्षिण-कोशल और विदर्भ) बँट-सा गया था। गुप्त सम्राट् समुद्र-गुप्त की (प्रयागवाली) प्रशस्ति से पता चलता है कि उस समय इस महारण्य का नाम महाटवी और महाकांतार भी था। इस महाकांतार में कई आदि जातियाँ (Tribes) रहा करती थीं, जिन्हें उसने अपने अधीन किया था। छठी सदी के परिव्राजक-वंश की प्रशस्ति से पता चलता है (जो इसी प्रांत में मिली है) कि डाहल या डाभाला-राज्य (नर्मदा और यमुना का मध्य भाग) के अंतर्गत १८ जंगली रियासतें थीं।

साष्टादशाटवी राज्याभ्यन्तरडाभाला।

यहाँ कई जातियाँ कबीले (Tribes) के रूप में जंगलों में रहा करती थीं। उनके मुखिया, सरदार या राजा निकटवर्ती प्रभावशाली राजा को प्रतिवर्ष जंगली पदार्थ नज़राने में देकर जंगल में मंगल किया करते थे। इस प्रकार अपनी संस्कृति, कुल-परंपरा, जातीय पंचायती शासन की रक्षा करते हुए आज तक टिके हैं।

सन् १२०० के लगभग प्रभावशाली त्रिपुरी के कलचुरि-राजवंश का पतन होना शुरू हुआ। सुरभी पाठक एक ब्राह्मण द्वारा यादोराय-नामक एक राजगोंड ने त्रिपुरी का राज हस्तगत किया। उसके द्वारा गढ़ा में (जबलपुर के पास) राजगोंडों का प्रथम राज्य स्थापित हुआ। यह गोदावरी-नदी के किनारे का रहनेवाला था।

इसी वंश के राजा संग्रामशाह ने ५२ गढ़ों में अपना राज्य बाँट रक्खा था। ये गढ़ाधिपति उसके वंश के थे, और उनमें से कुछ शीघ्र ही स्वतंत्र हो गए, जिनकी संतान राजगोंड कहलाती है। उसका विवरण अन्यत्र दिया गया है।



जंगल में गोंडी-ग्राम



आभूषणों-सहित गोंड-जाति की स्त्रियाँ

गोंड-शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, यह निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। विद्वान् लोग इस पर मनमाना अनुमान लगाते हैं। जनरल केनिंगहम गोंड-शब्द की उत्पत्ति गौड़ देश से बतलाते हैं (पश्चिमी बिहार और पूर्वी बंगाल का कुछ भाग गौड़ देश कहलाता था।), पर अन्य विद्वान् इस तर्क से सहमत नहीं। राजगोंड अब गौड़ से अपनी उत्पत्ति बतलाते हैं। हिस्लाप साहब ने इस जाति पर खोज-पूर्ण निबंध लिखा है। उनका अनुमान है कि गोंड-शब्द तेलगू-भाषा के 'कोंड' शब्द से आया है। तेलगू में कोंड का अर्थ पहाड़ होता है। आज तक गोंडों का केंद्रस्थल तिलंगाना-प्रांत है (गोंड और तेलगू-भाषा एक वंश की है)। पहाड़ों के निवासी होने से इन लोगों को समतल के लोग कोंड कहते होंगे। प्रसिद्ध विद्वान् टालेमी ने इनको 'गोंडलोइ' लिखा है।

गोंड-शब्द के विषय में

यह शब्द कहीं से आया हो, पर गोंड अपने को 'कोइ', 'कोइतार' कहते हैं। (गोंडी-भाषा में कोइ का अर्थ मनुष्य है। उसके आगे उत्तम, मध्यम, अन्य पुरुषों के चिह्न लगाकर बोलते हैं, यथा कोइतोना, कोइ-तोरम्, कोइतानी, कोइतोरीट, कोइतोर, कोइतोर्क, कोइतार, कोइताह़)। कोइतोर पुंलिंग और कोइतार स्त्रीलिंग है।

हिस्लाप साहब ने इस जाति की उत्पत्ति की कथा (एक गोंड वृद्ध परधान से सुनी थी) दी है। पर ऐसी कथाएँ वृद्ध लोग कई तरह की बतलाते हैं। यह सभी मानते हैं कि गोंडों को महादेव ने उत्पन्न किया। महादेव ने मूल-पुरुष लिंगा द्वारा इस जाति को अपनी संतानों को बाँट दिया। प्रत्येक गोंड आज भी महादेव पर अपना दृढ़ विश्वास रखता है।

भारतीय शैली के अनुसार गोंड-जाति के अंतर्गत अनेकों उपजातियाँ हैं। उनकी पेशेवर जातियाँ ये हैं—अगरिया (लोहार), ओझा और बैगा (झाड़-फूँक करने-

जाति-भेद

वाले), परधान (पुरोहित), सोलाहा (बढ़ई), गोवारी (पशु चरानेवाला), भुंजिया, खैरवार, नगारची आदि ।

इनमें राजगोंड अपने को क्षत्रिय समझते हैं । इन्होंने धर्म, आचार-विचार, रस्म-रिवाज आदि सभी बातों में हिंदुत्व ग्रहण किया है । उपनयनादि संस्कार ब्राह्मणों द्वारा कराते हैं । कुछ गोत्र भी क्षत्रियों के हैं । गढ़ा के राजा संग्रामशाह ने अपने सिक्कों पर (जो संवत् १६०० के हैं) 'पुलस्त्यवंशी' लिखवाया है । उसकी पुत्रवधू रानी दुर्गावती चंदेल राजकन्या थी । राजगोंडों में संस्कार आदि ब्राह्मणों द्वारा होते हैं । तेलगू-भाषी प्रांत में ये लोग दुरला कहलाते हैं ।

खटोलावालों के पूर्वज बुंदेलखंड के खटोला-राज्य के राजा थे । अब उस राज्य का अस्तित्व नहीं रहा । सागर की ओर ये लोग राजगोंडों से संबंध करते हैं । छिंदवाड़ा के राजगोंड एक साधारण गोंड के यहाँ विवाह कर लेते हैं, पर इनसे विवाह इसलिये नहीं करते कि ये हिंदुओं में मिल गए हैं । आदि गोंड अपने को 'धुरगोंड' बतलाता है । चाँदा की ओर गैता एक जाति है, जिसका अर्थ ग्राम का मुखिया होता है । नायक गोंड पुराने ज़माने में सैनिक चाकरी करते थे । छत्तीसगढ़ के गोंड लरिया कहलाते हैं । लांजिहा, मंडलाहा, ये स्थानवाची जातियाँ हैं । चाँदा की ओर माड़िया गोंड अधिक हैं । देवगढ़ का राजा बख़्तबुलंद इसी वंश का था ।

गोत्रों में विभाजन

रिज़ली साहब ने 'पिपुल ऑफ़ इंडिया'-नामक ग्रंथ में टोटम (जाति-चिह्न) के विषय में दिखाया है कि पहाड़ी जातियाँ अपना परिचय (गोत्रादि) वृक्ष-लता और जीव-जंतुओं के नाम पर देती हैं । जिस जाति का जिस वस्तु से परिचय अर्थात् जो जिसका टोटम है, वह जाति उस वस्तु या जानवर को आघात नहीं पहुँचाती—उसका सम्मान करती है, और न साधारण व्यवहार में उसका प्रयोग करती है । प्रत्येक मनुष्य टोटम के प्रति पूज्य और उपास्य

भाव रखता है। इसी प्रथा को गोत्र कहते हैं। समगोत्री भाई-बंद होते हैं। यह तो भारत की प्रत्येक जातियों का है।

मंडला और चांदा के गोंडों के गोत्र देवताओं की पूजन-संख्या पर रक्खे गए हैं। ऐसे गोत्रवाले प्रधानतः चार हैं। सात देवताओं के पूजक सातदेवा, ६ देवतावाले छदेवा, ५ देवतावाले पाँचदेवा, ४ देवतावाले चारदेवा हैं। इन देवताओं का एक ख़ास जानवर है, जो पवित्र समझा जाता है। जैसे सातदेवों का पवित्र पशु (वाहन) सेही, छदेवों का बाघ (शेर), पाँचदेवों का वाहन सारस और चारदेवा का कछुवा है।

इन गोंडों के गोत्र सैकड़ों की संख्या में हैं। किसी-किसी ने ३०० गोत्र संगृहीत किए हैं। कुछ नाम इस प्रकार के हैं—नागवंशी, बकरवंशी, भैंसाहा विड़का, नेताम (कुत्ता), मर्काम (आँव), तेकाम (साग), इरपाची (महुवा), तुमराची (तेंदू का वृक्ष), तरकर (जंगली बिल्ला) इतिमरानी बकरा (बकरा) पदीमरानी (शूकर), पनगाल (मेंढक), बत्रलिया (खजूर) गजमा (गज से शेर मारनेवाले के वंशज), कोहकापथ (भिलावाँ), जागल्या, सरियाम, गुड्डम (मुर्गी जहाँ अंडा देती है), अदमचि (धावेड़ का वृक्ष), सराटी (चाबुक), बटका (पत्थर), गधामार, अहके (नदी का तट), निरगाम (अग्नि), मनरा (पिता-पुत्र), मनदानी, पैयाम आदि। अर्थात् गोंड-जाति भी गोत्रों से विभाजित है।

एक ही गोत्रवाले (समगोत्री) भाई-बंद होते हैं, इसी कारण विवाह-संबंध नहीं होता। ममेरे, फुफेरे भाई बहनों के साथ विवाह करते हैं। मामा की लड़की के साथ विवाह करने का प्रत्येक गोंड हक़ समझता है। सभी द्राविड़ी जातियों में यह प्रथा पाई जाती है। गोंडों में 'दूध लौटाने' की प्रथा अधिक है। दूध लौटना उसे कहते हैं कि जिस घर की लड़की दूसरे घर में दी गई,

विवाह-संस्कार

उसकी संतति को विवाह द्वारा घर में ले आना। इसलिये गोंड लोग निकटवर्ती पुराने संबंधियों से विवाह करना अधिक पसंद करते हैं।

पुराने काल में कुँवारा गोंड जिस कुँवारी गोंडिन को पकड़कर घर लिवा लाता था, उसी के साथ उसका विवाह कर दिया जाता था। अब यह प्रथा अधिक नहीं है। कहीं पर कुछ गोत्रवाले इसका 'नेग' करते हैं। ग़रीब गोंडों में 'लमसेना', 'लमझना' की चाल है। लमसेना वह प्रथा है, जिसके द्वारा क्वाँरा गोंड अपने भावी ससुर के यहाँ जाकर चाकरी करता है, अर्थात् ससुर के घर में रहकर सभी काम-काज करता है। कुछ दिनों बाद वह अपनी लड़की ब्याह देता है। ऐसा दामाद 'लमझन्या' कहलाता है। विवाह होने के दो वर्ष तक दामाद ससुर का साथ देता है। उस वर्ष दामाद के लिये वह पाँच कुड़व (५० सेर) नाज एक खेत में बो देता है, उसे 'बुआरा' कहते हैं। यह दामाद की निजी आय होती है, और वह दंपति (मायजो मोइदो) उसी घर से खाना-कपड़ा लमसनी जीतने तक पाते हैं। बुआरा का अन्न उनकी निज की संपत्ति होती है। गोंडी विवाह सादगी से संपन्न होता है। विवाह की रस्में हिंदी और मराठी-ज़िलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। राजगोंडों का विवाह हिंदुओं के अनुसार ब्राह्मणों द्वारा होता है। सागर की ओर धनिक राजगोंड का विवाह वर की तलवार भेजकर संपन्न होता है। वधू तलवार-सहित खंभ की सात बार परिक्रमा करती है।

सर्व-साधारण सधन गोंड के विवाह का व्यय ५० से १३० रुपए तक बैठता है। वधू का शुल्क भी देना पड़ता है। वर-पक्ष का साधारण व्यय इस प्रकार है—

वधू-शुल्क	१५) से २०)
शराब	२०)
चावल	२०)
२ बकरे	१६)

घी	५)
वधू के लिये २ साड़ियाँ	१०)
२ साड़ियाँ अन्य के लिये	१०)
मिट्टी के बरतनों के लिये	४)
तेल	४)
नमक	२)
मिरचा, हल्दी, मसाला	३)
बाजा बजाने में	२)
अन्य व्यय	१४)
कुल	१३०)

इस जाति में विवाह की शैलियाँ (प्रथाएँ) भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। मंडला की ओर विवाह होने के एक दिन पूर्व रात्रि में लड़की ग्राम में किसी के घर जाकर छिप जाती है। वर का भाई या अन्य लोग उसकी खोज करते हैं। पता चल जाने पर वह भागकर पिता के यहाँ पहुँच जाती और वहाँ एक स्तंभ पर चढ़ जाती है। वहाँ से वर उसे लेकर जनवासे पहुँचता है। मंडप के मध्य में महुवा का एक स्तंभ गड़ा रहता है। वर-वधू को सुहागिनें ७ बार परिक्रमा (भाँवरें) कराती हैं, और चार बराती कंबल तानकर छाया करते हैं, और उस पर नींबू, अंडे और रँगे हुए जुआर के दाने डाल देते हैं। भाँवरें होने पर वह जोड़ी घर में प्रवेश करती है। द्वार पर एक पिटला (मुर्गी का बच्चा) मारना आवश्यक है, और उसका रक्त दोनों पर छिड़कते हैं। बाद में देवताओं के नाम से कई मुर्गियाँ मारी जाती हैं। विवाह करने का कार्य घर का सयाना या दोसी (गोंड पुरोहित) करता है। रात्रि में शराब-भोज और नाच-गाने होते रहते हैं।

छिंदवाड़ा की ओर वधू पक्ष के लोग वर के ग्राम में जाकर विवाह संपन्न करते हैं। वधू शुल्क प्रथम देना आवश्यक है। विवाह का समय

पंचायत के लोग निश्चित करते हैं। लड़की की मँगनी के समय पर भी भोज देना आवश्यक है। यहाँ के लोग भी भाँवरें कराते हैं। भाँवरों का रिवाज छत्तीसगढ़ की ओर भी है। विवाह के अवसर पर दूल्हादेव की मनौती होती है।

चाँदा के माड़िया वधू-ग्राम में जाकर विवाह करते हैं। ग्राम में टिक जाने पर वर-पक्ष से भोज का प्रबंध होता है। इस अवसर पर माड़ियों का नाच देखने योग्य होता है। शराब भी खूब चलती है। दूसरे दिन सुबह फिर भोज होता है। वर और वधू कंबल ओढ़कर मंडप में आते हैं। वहाँ घर का मुखिया देवताओं का पूजन कराकर दोनो का हाथ मिलाता है। वर वधू को अँगूठी पहनाता है। इस समय यह कहा जाता है कि आज से वह इस कुल की हो गई। पश्चात् दोनो पर कलसे का जल छिड़कते हैं। रात्रि में वह जोड़ा एक कमरे में निवास करता है। लोग आस-पास शोर करते हैं। रात्रि-भर बराती नाच-गाने में मस्त रहते हैं। प्रातःकाल होते ही विवाह का कार्य संपन्न हो जाता है।

विवाह आदि के अवसर पर बहनोई का अच्छा मान करते हैं। वह 'सेमरिया' कहलाता है। हरनी-मरनी में सेमरिया का काम पड़ता है। भोज के समय सबसे प्रथम उसे कौर खाना पड़ता है, तब बाक़ी पंच भोजन करते हैं। इसके लिये उसे 'नेग' मिलता है। संबंधी आपस में सगे कहलाते हैं।

स्त्रियों के लिये पति-विच्छेद और विधवा-विवाह करने की स्वतंत्रता है। एक गोंड स्त्री ५-६ पति कर सकती है। किंतु पति का ख़र्च पंचायत की राय से निश्चित होता है। ख़र्चे की रक़म दूसरे पति को देनी पड़ती है। कहीं-कहीं यह रस्म है कि पति की छोड़ी हुई स्त्री एक पात्र में हल्दी घोलकर ले जाती है, और जिसे पति बनाना चाहती है, उस पर डाल देती और उसके पीछे जाकर बैठ जाती है। तब घर के लोग और पंचायतवाले समझते हैं कि यह पैठू आई है। ऐसा संबंध

विंध्याटवी के अंचल में



बच्चे-सहित गोंड-स्त्री

विंध्याटवी के अंचल में



गोंडी-विवाह का एक दृश्य

'सँवारी नेंगाना' या 'लाग सहताना' कहलाता है। उस समय व्याहता पति को पंच लोग नवीन पति से ख़र्च दिलवाते हैं। यह रक़म १५-२० रुपए से अधिक नहीं होती। तीसरा पति करने पर दूसरे पति ने जो ख़र्च दिया है, उसका आधा उसे मिलता है। इसे वे लोग 'बूँदा' कहते हैं। ऐसे संबंध पर भी पंचायत को रोटी देना आवश्यक है।

विवाह के पूर्व यदि लड़की गर्भवती हो जाय, तो उसका प्रथम विवाह एक भाले के साथ कर देते हैं—पश्चात् योग्य वर के साथ विवाह करते हैं। अधिकांश गोंडों ने हिंदू-विवाह-पद्धति को अपनाया है। हल्दी लगाना, शराब पीना, नाचना, गाना और भोज, ये बातें तो आवश्यक हैं। कोई व्याहता स्त्री अन्य पुरुष के साथ उसकी पत्नी होने जाती है, तो उसे 'सँवारी' कहते हैं। सँवारी का अर्थ पैठू होता है। माड़िया गोंडों तक के विवाहों में भी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। इन लोगों के विवाह माघ, चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठ में होते हैं। लग्न-तिथि का निर्णय पंचायत ही करती है। सोमवार, बुधवार और शुक्रवार का दिन अच्छा समझते हैं।

जनन-मरण

पुराने ज़माने में गोंड जहाँ मरता था, वहीं गाड़ दिया जाता था, किंतु अब मरघट में जाने लगे हैं। राजगोंडों का मृतक-संस्कार हिंदुओं के समान होता है। गोंड लोग मुर्दे को इसलिये नहीं जलाते कि उस पद्धति में ख़र्च अधिक होता है। बस्तर और चाँदा के माड़िया गोंड जब कोई मरता है, तब उसकी सूचना समस्त ग्राम को ढोल पीटकर देते हैं। दूसरे या तीसरे दिन मृतक-संस्कार होता है। मृतक को पोशाक के सहित (कुछ द्रव्य भी रखकर) गाड़ते हैं, किंतु उसका मस्तक पश्चिम की ओर रखते हैं, और साथ में थोड़ा भोजन (तिंदाना बतारी) भी। बच्चे का शव प्रायः महुवा के वृक्ष के नीचे गाड़ते हैं। दफ़नाने का संस्कार होने पर मृतक पितरों में मिलाया जाता है। पितर-मिलौनी के समय वह मनुष्य पितरों में मिला या नहीं, इसकी जाँच

होती है। एक कटोरे में जल भरकर उसमें दो चावल छोड़ते हैं। यदि चावल बहकर मिल जाते हैं, तब तो समझा जाता है कि मृतक पितरों में मिल गया। यदि वे अलग-अलग रहे, तब एक मास तक पितरों का पूजन होता है, और दुबारा वही जाँच होती है। यह हो जाने पर गाँव का पंडा या उपाध्याय ग्राम की सीमा पर एक त्रिशूल या खूँटी गाड़कर आस-पास पत्थरों की ढेरी लगा देता है। इसे 'कौर' कहते हैं। मृतक का दान 'पठारी-जाति' ही लेती है।

मरने के तीसरे दिन 'कोज्जी' होती है। पहले ये लोग तीन दिन का सूतक मानते थे, पर अब १० दिन तक मानते हैं। कोज्जी के दिन 'चोकनी गाटो' (मरे का भात, जो एक नाले में पकाकर खाते हैं) करते हैं। मृतक के घरवाले तीन दिन तक बहन-बेटी (सेमरिया) के यहाँ खाना खाते हैं। चोकनी गाटो हो जाने पर ये लोग अपने घर की सफ़ाई करके पुरानी हंडियाँ फेंक देते हैं। नए बरतनों में फिर अन्न पकाते हैं। पितरों का पूजन हो जाने पर सेमरिया को साथ लेकर घरवाले भोजन करते हैं। मृतक की पूजा के समय का गोंडी मंत्र—

"खरा खरबरा गुट्टाते मंदाकीते कोज्जी जारसुम।"

कोज्जी—कपड़ा बिछाकर एक पायली (सवा सेर) आटा उस पर डालकर △ यह चिह्न बनते हैं। पास में एक दीपक रखकर उसे एक टोकने से ढाँक देते हैं। कहते हैं, मृतक आकर उसमें चिह्न बनाता है। उसमें भात और गोश्त दो हिस्से में रखते हैं। उस हिस्से को बंद करके लोग खा-पीकर आराम करते हैं। सबेरा होते ही उस दीपक को नदी में प्रवाहित करके उस आटे की रोटी पकाते हैं। भीतर के देवताओं का पूजन करके लोग बचा हुआ प्रसाद खाते हैं। पूजा सुबह से आरंभ होकर दोपहर में समाप्त होती है। घर के भीतर के देवता—मर्काम, देवी, दूल्हादेव, दूल्हा खोरिया गोडातरी (कुठिया के पाया के पास का) देव, नरायनदेव।

दसवें दिन घर के मनुष्य मुंडन कराते हैं। उस दिन बकरा आदि मारकर लोगों की दावत होती है। शराब भी चलती है। यदि वर्ष में एक ही मकान में दो मनुष्य मर गए, तब तो यह समझा जाता है कि यहाँ रहना अच्छा नहीं, इसलिये दूसरा घास-फूस का मकान बनवाते हैं। भूत-प्रेतों पर उनका दृढ़ विश्वास है। इनके कुपित होने से मनुष्यों पर आपत्तियाँ आती हैं, यह समझते हैं। इसलिये आपत्ति आने पर पितरों की मनौती आरंभ हो जाती है। जंगली इलाक़ों में कोज्जो के दिन गाय या बैल मारे जाते थे, पर अब बकरे से काम चल जाता है।

ये लोग छुआछूत भी मानते हैं। रजस्वला स्त्री पाँच दिन तक घर के बाहर ही रक्खी जाती है। उसकी छाया पड़ना भी ख़राब समझते हैं। जिन औरतों के बच्चे नहीं होते, उनके लिये 'बैगा' उपाय करता है। बड़े देव के पूजन से संतान होती है। ऐसी स्त्री रविवार की रात्रि को नग्न होकर साग-वृक्ष के पास जाती है, क्योंकि यह वृक्ष बड़े देव का स्थान है। बैगा या भूमका जादू-टोना करके स्त्रियों को पुत्र दिलवाते हैं। बच्चा होने पर पिता को एक मास का सूतक रहता है। माड़िया गोंड एक मास तक कोई काम नहीं करता। १२वें दिन सौर की स्त्री नहा-धो लेती है, और उसी दिन बच्चे का नाम रक्खा जाता है। घर आदि की सफ़ाई करके घर की वृद्धा उस बच्चे का नाम रख देती है।

गोंडी देवता

सभी पहाड़ी जातियाँ जादू-टोना, भूत-प्रेत, चुड़ैल और पितरों पर विश्वास रखती हैं। इसलिये बीमारी, मरना आदि में इनकी मनौती 'गुनियाई' करता है। इनके अनेकों देवता हैं, जिनमें से कुछ का परिचय नीचे दिया जाता है—

नरायनदेव या नरायन (पेन देवता)—डेवढ़ी का देव। सर्प आदि के काटने पर लोग इस देवता का पूजन करते हैं। इस देव को शूकर बहुत प्रिय है। प्राय: शूकर के बच्चे को बधिया करके उसकी पूँछ काट देते हैं। बोंडा शूकर नारायण का और बधिया पूँछवाला सूर्य देवता का माना जाता

है। लोग देव के बदना (स्थान) में इनको चावल अर्पण करते हैं। यह पूजा मंगलवार या शनिवार को होती है। नरायन की पूजा करने के पूर्व लोग नदी-तट पर जाकर सूर्य का पूजन करते हैं। नरायन के पूजन में शूकर की बलि प्रधान है। जानवर के चारों पैर बाँधकर, घर की परछी के द्वार पर बड़ी-बड़ी बल्लियों से टाँगकर लाते हैं, और उन्हीं बल्लियों से लोग उस पर चढ़कर दबाते हैं। उस समय जानवर के मुँह में मूसल डालते हैं। इसी प्रकार जानवर को मारकर फिर उसका सिर कुल्हाड़ी से काटते हैं। उस मस्तक को रखकर उस पर फुलहरा बाँधते हैं। पास में चावल और दीपक रखते हैं। बाहर एक गड्ढा खोदकर उसे ढँक देते हैं। घर का सयाना नहा-धोकर पूजन के लिये तैयार होता है। साथ में बरुआ और बरुइन नियत होते हैं। वे घर में पानी भरते हैं। भोज में ग्राम के प्रायः सभी आते हैं। जानवर की हड्डियाँ और पत्तलें इस गड्ढे में डालकर उसे मिट्टी से बराबर कर देते हैं। इस पूजा में छूतछात नहीं मानते—गोंड और पठारी एक साथ खाते-पीते हैं। इस समय चमार का पहुँचना अच्छा सगुन समझा जाता है। प्रति तीसरे वर्ष नरायन की पूजा होती है। सूर्य के बधिया या श्वेत मुर्गे को 'सुरजाल' कहते हैं। नरायनदेव के बधिया को लाड़ (लाडुर) कहकर खाना देते हैं।

दुल्हायेन (चूल्हे के पास का देव)—मृतक की क्रिया जब तक नहीं होती, तब तक भोजन तैयार होने पर प्रथम इस देव को अर्पण करते हैं, जिससे वह मृतक को किसी प्रकार का कष्ट न दे। संतान के हेतु लोग इस देव का पूजन करते हैं।

मुरढ़की (रातमायी)—कुठिया के नीचे रहता है। उसका पूजन लोग एकांत में करते हैं। दोपहर के समय एक सुअर की पाठ (मादी) मारकर चढ़ाते हैं, और रात्रि-भर में पूजक लोग उसका मांस भूँजकर खा जाते हैं। हड्डियाँ और घर ही में गाड़ देते हैं।

बिगरहा—इस देवता के पूजन के लिये लोग बेगार में खेत जुतवाते हैं। घर के आदमी उसमें काम नहीं करते।

माता—देवी का पूजन घर के आँगन में होता है। उसकी मानता करनेवाले 'पंडा' कहलाते हैं। पर जो घर के आँगन में पूजता है, वह पंडा नहीं कहलाता। पंडा की कुटिया ग्राम के बाहर होती है। नियत समय पर रोगी लोग वहाँ जाते हैं, और पंडा उनके लिये मनौती करता है। प्रत्येक को एक नारियल और रुपया-आठ आना चढ़ाना पड़ता है। पंडा दूसरे की चिलम नहीं पीता। उसके चेले बरुआ और बरुइन कहलाते हैं। चैत्र में माता के बदना में जवारा बोते हैं। पंडा राम-राम नहीं कहता, वह 'सेवा' कहता है। लोग एक बाँस को रँगकर, उसके एक छोर में कुछ मोर के पंख बाँधकर समारोह के साथ उठाते हैं। साथ में सींग बजाते हुए ग्राम की मड़ई में पहुँचते हैं, और वहाँ मंडईदेवी की डाँग गाड़कर पंडा पूजने के लिये बैठता है, पास में अन्य लोग भी। जो लोग पूजन नहीं करते, वे केवल परिक्रमा करते हुए चावल फेंकते हैं। इसी का नाम 'मड़ई ब्याहना' है। ऐसा करने से एक वर्ष तक माता का प्रकोप नहीं होता। माता, हैज़ा आदि बीमारियों से लोगों की रक्षा होती है। देवी के नाम से बकरा या पाड़ा (भैंस का बच्चा) भी छोड़ते हैं।

खेरमाई (साथ में कई देव रहते हैं।)—आषाढ़ और कुँवार में खेरमाई का पूजन होता है। पूजन में लोग मुर्गी के बच्चे और नारियल चढ़ते हैं। आषाढ़ में प्रत्येक गोंड किसान हर प्रकार के बीज बनाते हैं, उसको 'बिदरी करना' कहते हैं। इस पूजा में शराब चलती है। बिदरी करनेवाला 'दवार' कहलाता है। दवार का कार्य प्रायः बैगा करता है। नाज बोने के समय थोड़ा-सा नाज उसे प्रत्येक किसान देता है। जंगल में एक देवता 'पाट' रहता है, जिसके बिगड़ने से 'बघाहि' (जहाँ शेर आता है।) होती है। उसका पूजन भी दवार करता है।

होलेराय—यह देवता पशुओं की रक्षा करता है। दीपावली के अवसर पर प्रत्येक गोंड पशु-वृद्धि के लिये होलेराय को पूजता है। मुर्गियाँ और नारियल खूब चढ़ाए जाते हैं। इसी समय भैंसासुर का भी पूजन होता है।

मरापेन—गुनिया बीमारी के अवसर पर इस देव का पूजन करता है।

बरियारपेन (बूढ़ादेव)—गोंडों का यह बड़ा देव है। यह देवता मरे हुए गोंडों को पुरखों में मिलाता है। पर जो अकाल मृत्यु से मरते हैं, वे पुरखों में नहीं मिलते। (जो व्याघ्र, सर्प, हैज़ा, चेचक, अग्नि, वृक्ष से या पानी में डूबने से मरते हैं, उनकी मृत्यु अकाल कहलाती है।) उनके प्राण पत्थर में गाड़े जाते हैं। (गोंडों का विश्वास है कि ऐसे मृतक प्राण पत्थर में रहते हैं।) सभी गोंड इस देवता को पूजते हैं। प्रत्येक वंश में इस देव का एक पुजारी होता है। पूजन के अवसर पर वह अपने वंशवालों को इसकी सूचना देता है, तब सभी घरवाले यथाशक्ति मुर्गा, बकरा और अन्न लेकर पहुँच जाते हैं। इस देवता का स्थान 'साज वृक्ष' होता है।

गोंड लोग महादेव, नर्मदामाई को भी पूजते हैं। 'खीलामुठिया'-नामक देवता प्रतिवर्ष पूजा जाता है। खलिहान के कई देवता होते हैं। गुनिया के देव 'वीर' कहलाते हैं। धरतीमाता, सूर्यदेव का भी पूजन करते हैं। सभी देवताओं के पूजन में सुअर, घिटले, बकरे, रोट, मलीदा चलते हैं।

गोंडों के देवता 'देवखल्ला' में रहते हैं। उनका पुरोहित नियमित रूप से उनका पूजन करता है। ये देवता बाँधकर वृक्ष की डाल पर लटका दिए जाते हैं। पोलो-नामक देवता बोरे में बंद रहता है। देवखल्ला के देवता-समूह को ही 'बड़ादेव' कहते हैं। उनमें निम्न-लिखित ६ देवताओं की मूर्तियाँ रहती हैं—(१) फारसापेन, (२) मटिया, (३) घाँघरा, (४) पालो, (५) सल्ले और (६) चँवर। इसी प्रकार ७ देवों को भी समझना चाहिए। उनके कई और भी घरेलू देवता होते हैं। जैसे



गोंडी नाच का दृश्य



नाच के लिये सज्जित माड़िया गोंड

'नागदेव'। यदि किसी को नाग डस ले, और वह मर जाय, तो उसके वंशज उसका पूजन करने लगते हैं। मंडला आदि ज़िलों में प्रत्येक गोंड-परिवार में एक 'देवथान' रहता है, जिसमें उनके देवताओं का पूजन होता है। जिनके यहाँ बच्चे होते हैं, वे 'फुलनादेवी' पूजते हैं। पुराने ज़माने में बस्तर और चाँदा के गोंड कालीदेवी के लिये मनुष्य की बलि देते थे, पर अब कल्पना तक नहीं रही।

रहन-सहन

गोंडों ने हिंदू-त्योहारों को अपना लिया है, उस पर भी कुछ प्राचीन त्योहार आज तक जारी हैं। फ़सल के घर आने पर चैत्री त्योहार होता है। नया अन्न खाया जाता है, और लोग रात्रि-भर शराब पीकर नाचते-गाते हैं। भादों में नया चावल पक जाने पर 'नयाखाई' त्योहार होता है। महुवा में बौर लगने पर ये लोग साज-वृक्ष का पूजन करते हैं। होली का त्योहार सबमें प्रधान है। इस दिन लोग खूब नाच-गाना करते हैं। मराठी ज़िलों में भूमक (पुरोहित) साज-वृक्ष की एक लंबी लकड़ी गेरू से रँगकर ग्राम के मध्य में गाड़ते हैं, और अंतिम छोर में आड़ी लकड़ी बाँधते हैं। इसे 'मेघनाद' कहते हैं। मेघनाद रावण का बेटा था, और प्रत्येक गोंड अपने को रावण-वंशी कहता है। ग्राम का पटेल भूमक को उपहार देता है। लोग स्तंभ पर चढ़ने का यत्न करते हैं, और स्त्रियाँ उसे मारती हैं। जो इसकी परवा न करके अंतिम छोर तक पहुँच जाता है, वह पुरस्कार पाता है।

यह जाति सदैव जंगलों में बसती आई है। सर जेंकींस ने सन् १८२७ में जो रिपोर्ट लिखी थी, उसमें उन्होंने बताया था कि गोंड-जाति नग्नावस्था में जंगलों में रहती है। किंतु अर्द्ध शताब्दी के पश्चात् मि० हिस्लाप ने जब इस जाति पर निबंध लिखा, उस समय वे बहुत कुछ सुधर गए थे। वे ग्रामों में बसने लगे और किसानी करने लगे थे। इन लोगों को जंगल के जानवर, बकरे, गाय, बैल, भैंसा, शूकर, बारहसिंगा के मांस प्रिय थे, और आज भी हैं। ये लोग जंगली पदार्थ—जैसे चिरौंजी,

भिलावाँ, तेंदूफल, कई प्रकार के कंद-मूल—अच्छी तरह जानते और खाने के उपयोग में लाते हैं। पूर्वकाल में ये लोग 'बेवर की खेती' करते थे (उसका विवरण आगे दिया गया है)। अब तो ये लोग अच्छी किसानी करते हैं।

इस युग में भी इस प्रांत के पहाड़ी अंचल में कई गोंड वस्त्रों का उपयोग बहुत ही कम करते हैं। वृक्षों की छाल और जानवरों के चमड़ों से ये लोग पुराने ज़माने में शरीर ढाँकते थे, किंतु आज भी बहुत ही कम वस्त्रों का उपयोग करते हैं। मर्दों के लिये एक धोती और सिर बाँधने के लिये २ गज़ कपड़ा और स्त्रियों के लिये ६ गज़ से ८ गज़ी साड़ी पर्याप्त है। स्त्रियाँ छाती खुली रखती हैं। अब तो स्त्रियाँ चाँदी, फूल और पीतल के ज़ेवर पहनती हैं। मर्द और स्त्रियाँ शरीर गोदवा डालते हैं। यह संस्कार करना आवश्यक है। प्रत्येक गोंड स्त्री के शरीर पर निम्न-लिखित चिह्न अंकित मिलते हैं—



इनके मुख्य शस्त्र तीर, भाला, कुल्हाड़ी और तलवार हैं। अब तो ये लोग बंदूक का भी उपयोग करने लगे हैं। शिकारी होने के कारण ये लोग निशाना अचूक लगाते हैं। अधिक मांस-सेवी होने से इनका यह प्रतिदिन का कार्य है। अनाज का उपयोग बहुत कम करते हैं—कोदों, कुटकी, जुवार, चावल और मकई से काम चला लेते हैं। साग-भाजी भी खूब खाते हैं। जंगलों में कंद, मूल, फलों की कमी नहीं, और उनकी

इन्हें पूरी जानकारी है। कौन-सा कंद खाने योग्य है, उसे वे तुरंत जान लेते हैं। प्रत्येक गोंड शराब का प्रेमी होता है—सभी प्रसंगों पर शराब चलती है। लोग जब पहुनाई करने जाते हैं, तब शराब साथ ले जाते हैं। बिना शराब के किसी गोंड की शुद्धि नहीं होती। आबकारी विभाग की कड़ी व्यवस्था होने पर ये लोग चोरी से महुवा या धान की शराब बनाते हैं, और कई लोग पकड़े जाते हैं। स्त्री और पुरुषों का कार्य इसके बिना नहीं चलता। ये लोग सत्य-प्रिय होते हैं, दग़ाबाज़ी से दूर रहते हैं। इनके मकान साधारण ३-४ कमरे के होते हैं। प्रायः प्रत्येक गोंड ईमानदार, साहसी और सत्यप्रिय होता है।

ये लोग मध्यम क़द के, श्यामवर्णी होते हैं। सिर गोल, मुँह चौड़ा, ओंठ मोटे, केश काले और घने, मूछ और दाढ़ी में केश अल्प रहते हैं। मर्द की औसतन् ऊँचाई ५ फ़ीट ६ इंच और स्त्री की ५ फ़ीट ४ इंच तक होती है।

जादू-टोना, भूत-प्रेत और चुड़ैलों पर इनका भी अन्य पहाड़ी जातियों के समान दृढ़ विश्वास है। प्रत्येक बीमारी पर ये लोग इनकी दुष्टता मानते हैं, इसलिये इनकी शांति के लिये बैगा, गुनिया या भूमका आकर पूजन-पाठ करता है। बहुत-सी बातें हमने इसलिये नहीं दी हैं कि वे हम अन्य पहाड़ी जातियों के विवरण में दे रहे हैं, क्योंकि प्रायः पहाड़ी जातियों की रस्म-रिवाजें एक दूसरी से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

ये लोग विनोदी और हँसमुख होते हैं—शराब पीना, नाचना और

मनोरंजन

गाना इनका प्राकृतिक स्वभाव है। यह गुण प्रायः प्रत्येक पहाड़ी जाति में पाया जाता है। होली, दीवाली या अन्य आनंद के अवसर पर नाच समारंभ करना आवश्यक है। इनकी नाच शैली 'करमा' कहलाती है। आज भी योरपियन लोग इनका नाच देखने के लिये उत्सुक रहते हैं। चाँदा-ज़िले के माड़िया गोंडों का नाच देखने योग्य होता है, क्वाँरी कन्याएँ इस नाच में भाग लेती

हैं, विवाह हो जाने पर फिर नाच में भाग नहीं लेतीं। एक-एक युवक अपने योग्य एक-एक युवती नाच के लिये चुन लेता है। युवक और युवतियाँ छाती से छाती सटाकर वर्तुलाकार खड़ी होती हैं—एक हाथ गले में और दूसरा छाती से भिड़ाकर अँगरेज़ी पद्धति से ढोलों के ठेके पर नाचते हैं। बाजा बजानेवाले वर्तुल के भीतर रहते हैं। नाचते-नाचते जब जोड़ी थक जाती है, तब विश्राम के लिये वहाँ से पृथक् होते हैं। शराब आदि पीकर और थोड़ा-सा विश्राम करके फिर नाचने लगते हैं। कभी-कभी ऐसे नाच में नाचनेवाले का जोड़ा जंगल की ओर खिसक जाता है, और जंगल ही में ३-४ दिन तक आनंद करता है। या तो वे लोग स्वयं ही घर आ जाते हैं, या घर के लोग लिवा लाते हैं। पश्चात् गाँव के लोग यह समझने लगते हैं कि दोनो का विवाह हो गया। माड़ियों के नाच के लिये शराब और चावल में ही ७०-८० रुपए लगते हैं। नाच के गाने भी स्त्री-पुरुष, दोनो गाते हैं।

भाषा

समस्त भारत में २० लाख गोंडी-भाषा बोलनेवाले हैं। इनकी बोली तेलगू से मिलती-जुलती है। इसी कारण भाषा के विद्वान् इस बोली को 'द्राविड़ी वंश' की मानते हैं। इनकी न तो कोई लिपि है, और न साहित्य, इसलिये गोंड लोग हिंदी या मराठी-भाषा पढ़ने लगे हैं। पादरियों ने ईसाई-धर्म-प्रचार करने के हेतु कुछ वर्ष पूर्व एक बाइबिल छपवाई थी। शब्द-कोष बहुत ही अल्प होने से अब तो इनकी बोली में बहुत-से हिंदी-मराठी शब्द आ गए हैं।

बैगा-जाति

जन-संख्या—

हिंदू-बैगा—२८,२४३

मूल-बैगा—३०,१५८

भाषा-शास्त्री कहते हैं कि मूल-बैगाओं की बोली मुंडारी-वंश की थी, पर अब तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहा। विद्वानों ने अब यह मान लिया है कि ये लोग गोंडों की शाखाओं से हैं। इस वंश के लोग समस्त प्रांत में पाए जाते हैं। आज भी इस जाति के लोग गुनियाई और झाड़-फूँक करके चरितार्थ (भरण-पोषण) चलाते हैं। जादू-टोना और भूत-प्रेतों से लोगों को बचाते हैं। इसी कारण गोंड लोग अपने ग्रामों में इन्हें बसवाते हैं। ओलों को बराने, रोगराई न आने देने के लिये ये लोग देवताओं की मनौती करते हैं। साथ ही जंगली वृक्ष-विज्ञान से परिचित होने के कारण ये लोग ओषधि भी करते हैं।

ये लोग कहते हैं कि बड़ेदेव ने सबसे पहले 'नंगा बैगा' और 'नंगी बैगी' को उत्पन्न किया, जिसके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। जेठे से बैगा पैदा हुए, और छोटे की संतानों में संसार के समस्त मनुष्य। इनके गोत्र, रस्म-रिवाज आदि गोंडों से मिलते-जुलते हैं। हाल ही में इस जाति पर प्रसिद्ध पादरी एलविन ने एक पुस्तक अँगरेज़ी में लिखी है।

ये लोग अब तक जंगलों में छरकैल (अकेले) रहा करते थे। आज भी ये हल द्वारा किसानी करना पाप समझते हैं। इनका विश्वास है कि हल से धरती माता को कष्ट होता है। इसलिये ये लोग बेवर के तरीक़े से किसानी करते थे। जंगल में पहाड़ी ढाल पर एक टुकड़ा कृषि-योग्य पसंद करके मई (वैशाख)-मास में उस स्थान के झाड़-झाँकड़ को काटकर वहीं सुखा देते हैं, और ज्येष्ठ उतरते ही अर्थात् जून के आरंभ में उन झाँकड़ों को उसी

बेवर की किसानी

खेत में जला डालते हैं, और उस राख को अच्छी तरह फैलाकर उसमें बीज बो देते हैं। पानी गिरने से वह फ़सल तैयार हो जाती है। इसे बेवर का तरीक़ा कहते हैं। उसमें कोदों, कुटकी, जवार और मकाई बोते हैं। ऐसे खेतों में ४ वर्ष तक फ़सल होती है, और बाद में इसी प्रकार दूसरा 'चक' (खेत) तैयार करते हैं। इसी को 'बैगाचक' कहत हैं। सरकार ने ऐसे लोगों को जंगल-विभाग द्वारा कुछ चक रक्षित रखने की सहूलियत दे रक्खी है। लेकिन अब तो कई लोग हलों से खेती करने लगे हैं।

छत्तीसगढ़ के भुइयाँ और बैगा एक ही नस्ल के जान पड़ते हैं। ये लोग आज भी जंगलों में छरकैल रहते हैं। उनके घास-फूस के झोपड़े ऐसे स्थानों में बने होते हैं, जहाँ साधारण लोग नहीं पहुँच सकते। जंगलों के मार्ग, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, कंद-मूल और फलों को ये लोग अच्छी तरह जानते हैं। शहराती लोग जब इनके ग्राम में पहुँचते हैं, तब ये लोग प्रायः घर छोड़कर जंगलों में चले जाते हैं। उनके बड़ेदेव ने चूहों और केकड़ों से लेकर साम्हर और बारहसिंगा तक रच रक्खे हैं। कंद-मूल और फलों की गिनती नहीं। इस वंश के लोग अधिकतर मंडला, बालाघाट और बिलासपुर के जंगलों में पाए जाते हैं।

परधान

जन-संख्या—५८,८११

गोंडों में परधान हलकी श्रेणी के माने जाते हैं। इनको परगनिया, देसाई और पठारी भी कहते हैं। परगनिया परगने का द्योतक, पठारी का अर्थ वंशावली जाननेवाला और देसाई ज़मीन-विभाग का अधिकारी। बालाघाट-ज़िले में परधान गोंड 'मोवासी' कहे जाते हैं। गोंड कहते हैं कि बड़ेदेव ने सबसे पूर्व ७ मनुष्यों को उत्पन्न किया था, जिनमें से सबसे छोटे से परधानों की उत्पत्ति है। ये लोग गोंडों के भाट हैं। जब कोई

परधान किसी गोंड को प्रणाम करता है, तब कहता है—"बाबू, जोहार।" उसका उत्तर मिलता है—"पठारी. जोहार।"

इस जाति के राजपरधान, गांडा परधान और भोड्या परधान तीन प्रधान भेद हैं। राजगोंडों का परधान अपने को राजपरधान कहता है। कहते हैं, पुरातन काल में गोंडों के उपाध्याय निहंग रहते थे। पूजा के अवसर पर स्त्री-पुरुष उपस्थित रहते थे। किंतु एक समय पुजारियों ने स्त्रियों को भगाया, यह देखकर गोंडी-पंचायत ने दूसरा पुरोहित नियत करना सोचा। सौभाग्य से परमात्मा की प्रार्थना करने पर आकाश से एक भिंगरी (लकड़ी की वीणा) गिरी। लोगों ने उसे अपना पुरोहित बनाया। उसी से राजपरधानों की उत्पत्ति है। इनमें माड़े, खटोलिया, देवगढ़िया, गैना, कंदेर, अरख, गोंड पठारी और चोर पठारी भेद मुख्य हैं। अंतिम दोनो जातियाँ जरायम पेशेवर हैं। देवखल्ले का जब कोई गोंड समारोह करता है, उस समय इनका उपस्थित रहना आवश्यक है।

ये लोग विवाह के अवसर पर वधू को वर के ग्राम में ले जाकर आवागमन के मार्ग में या चौरास्ते पर विवाह संपन्न करते हैं। वर काला कंबल ओढ़कर (हाथ में हथियार) वधू सहित विवाह-स्तंभ की ५ बार परिक्रमा करता है। यह हो जाने पर वर वधू को एक लोहे की अँगूठी पहनाता है। पश्चात् देवताओं के नाम से कम-से-कम ५ घिटले या मुर्गे मारे जाते हैं। यह हो जाने पर लोग घर आकर शराब पीते और रात्रि में भोजन करते हैं। घरवालों को कम-से-कम १२ रुपए वधू-शुल्क के देना पड़ते हैं। तलाक़ और विधवा-विवाह भी होते हैं। वैशाख-शुक्ल तीज को प्रतिवर्ष गोंड और परधान, दोनो ही विशेष समारोह के साथ बड़ेदेव का पूजन करते हैं। पूजन में पुराने ज़माने में गाय बैल की क़ुर्बानी होती थी, किंतु अब यह प्रथा बंद करके उसके स्थान में शूकर, भैंसा, बकरे का बलिदान होता है। साथ में शराब, फल-फूल और नारियल भी लगते हैं। बड़ेदेव का स्थान प्रायः महुवा या साल-वृक्ष पर रहता है। छत्तीस-

गढ़ में यह कहा जाता है कि बड़ेदेव का पिता गोंड और माता रावत-जाति की थी। उनका पुत्र ही बड़ादेव है। इसकी मनौती से लोगों के कष्ट दूर होते हैं।

इन लोगों का रहन-सहन गोंडों के समान है, पर गोंड इनके यहाँ भोजन नहीं करते। प्रत्येक परधान अपना कुल-चिह्न बाएँ कंधे पर गुदवाता है। ये लोग गोंडों से धूर्त होते हैं, और इसलिये यह जाति जरायम पेशेवर मानी जाती है। छत्तीसगढ़ के 'सोनठग' प्रसिद्ध हैं। ये लोग ग्रामों में किंगड़ी (एकतारा) बजाकर भिक्षा माँगते हैं।

ओझा

यह नाम संस्कृत से आया हुआ जान पड़ता है। गोंडों ने भी अपने तांत्रिक-मांत्रिकों का नाम ओझा रख दिया है। गोंड और कोरकू जातियों में ओझा हैं। इनमें दो श्रेणी के लोग हैं—एक घर-घर जाकर भीख माँगते हैं, और दूसरे बहेलिए का व्यवसाय करते हैं। पुरुष सिंगरी बजाकर नाचते-गाते हैं।

गोंडों के समान इनके गोत्र देवताओं की संख्या पर पाए जाते हैं। समान देवोपासक समगोत्री होते हैं, इसलिये समगोत्री भाई-बंद होते हैं। इनके रस्म-रिवाज आदि सभी गोंडों के समान हैं। जो गोंड ओझा-स्त्री से विवाह करता है, वह भी ओझा कहलाने लगता और भीख माँगता है। यदि स्त्री अन्य जाति से संबंध कर ले, और फिर जाति में आना चाहे, तो केवल 'रोटी' (भोज) देने से जाति में शामिल हो जाती है। ये लोग प्रायः मुर्दे को गाड़ते हैं, पर सूतक नहीं मानते ; केवल एक घूँट शराब पीने से शुद्ध होते हैं। ये लोग भूँकनेवाले जानवर (जैसे गधा, कुत्ता या बिल्ली) नहीं मारते। गोंड इनको अपने से नीची श्रेणी का समझते हैं। यही कारण है, ओझा देवखल्ला के पूजन में गोंडों की बराबरी में नहीं बैठ सकता।

तृतीय किरण

कोल, मुंडा, हो, हरका

हिंदू-कोल—७५,७५७

मूल-कोल—१५,७१६

कोल-वंश की आबादी समस्त भारत में २५ लाख के लगभग है।

परिचय मानव-शास्त्रियों ने द्राविड़ी-जातियों से इसे पृथक् किया है, इसलिये इस जाति को कलोरियन या मुंडारी-वंश भी कहते हैं। इस प्रांत में इनकी जन-संख्या एक लाख के लगभग है।

इस जाति की आबादी जबलपुर, मंडला और बिलासपुर-ज़िलों में है। इनमें से ५८ सहस्र कोल जबलपुर-ज़िले में बस गए हैं। विद्वानों का कहना है, कोल, मुंडा *, हो आदि जातियाँ एक ही वंश की हैं। जबलपुर और रीवाँ की ओर जो कोल बस गए हैं, वे पूर्ण रूप से हिंदू हो गए हैं, और उनकी बोली हिंदी है, किंतु बिलासपुर से लेकर झारखंड तक इस वंश के लोग आज भी अपनी संस्कृति बनाए हुए हैं।

सिंहभूमि के निकट चाँईबासा के पास एक इलाक़ा 'कोलहान' कह-

---

* मुंडा-जाति—मुंडा-शब्द का अर्थ "ग्रामों का मंडल" होता है। अब यह जाति-वाचक शब्द बन गया है। इस जाति का केंद्र-स्थान उड़ियाना है, जहाँ उनके १४ भेद हैं, जिनमें खरिया मुंडा, उराँव मुंडा, भुइँहार मुंडा, माहिली मुंडा मुख्य हैं। इस जाति का विवरण अन्यत्र दिया गया है।

जाता है। अनुमानतः यह स्थान इस जाति का केंद्रस्थल है। यहीं से उठकर यह जाति मध्य भारत तक पहुँची है। कहते हैं, कोल-शब्द संताली बोली के 'हर' शब्द से निकला है, क्योंकि उस बोली में इस जाति को हार-हर-हो—कोरो कहते हैं, जिसका अर्थ मनुष्य होता है। स्व० रा० ब० हीरालालजी कहते हैं कि संस्कृत में कोल-शब्द का अर्थ शूकर होता है। संभव है, उच्च वर्ण के लोगों ने यह नाम इस जाति के प्रति घृणा दर्शाने के हेतु रक्खा हो।

हिंदुओं के प्राचीन ग्रंथों में असुर-जाति * का उल्लेख अनेकों स्थलों पर मिलता है। संभव है, असुर शब्द प्रायः सभी पहाड़ी जातियों के लिये प्रयोग किया गया हो। ब्रह्मखंड के अनुसार "लेटके और तीवर कन्या से मालु मल्ल, मातर, भंड, कोल और कलंदर ६ मानवों ने जन्म लिया।" हिमवतखंड में लिखा है कि "यह जाति (कोल म्लेच्छ-जाति) हिमालय के अंचल में मृगया करके अपना जीवन व्यतीत करती थी।" संभव है, यह जाति उत्तर से आकर झारखंड में बस गई हो। पुराणों

---

* असुर-जाति—छोटा नागपुर की ओर इस जाति की आबादी है। ये लोग लोढ़ा और अगरिया भी कहलाते हैं। इनमें ५ गोत्र (कोलासुर, लोढ़ासुर, पहड़ियासुर, बिरजिया और अंगोरिया) और १३ कुल हैं। इनके रस्म-रिवाज उराँवों से मिलते-जुलते हैं।

कोलासुर का विवरण योगिनीतंत्र के १७वें पटल में दिया गया है। उस कथा का सार यह है—"एक समय भगवान् को ब्रह्मशाप हुआ, जिसके निवारणार्थ भगवान् विष्णु ने अष्टाक्षरी मंत्र से काली-देवी की आराधना की। उसके परिणाम-स्वरूप वह शाप दैत्य-रूप में परिवर्तित हो गया, जिससे जनता को कष्ट होने लगा। तब भक्त-जनों ने काली की आराधना की, और काली ने उस दैत्य का नाश किया।" कोलासुर कहते हैं, हम उस असुर की संतान हैं।

से पता चलता है कि भारत के पूर्वी छोर में म्लेच्छ किरात बसते थे। कोल, किरात या किन्नर एक नस्ल के नहीं जान पड़ते, किंतु इतना तो निश्चय है कि कोल यहाँ बहुत पीछे आकर बसे हैं। उनके पूर्व यहाँ 'शरावक'-जाति रहती थी। कोल कहीं से भी आए हों, पर कोल-मुंडा और उराँव-जातियाँ एक ही वंश की हैं।

कोल अपनी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार बतलाते हैं—"इस जाति के उत्पादक सिंगबोंगा (सूर्य) और 'अतिबोराम' हैं। इन दोनो ने मिलकर पृथ्वी, प्रस्तर, जल, वृक्ष, नदियाँ, जंगल, जीवों को रचा। कहते हैं, जब पृथ्वी बनकर तैयार हो गई, उस समय उन्हें मनुष्य-सृष्टि रचने की इच्छा हुई। इसलिये उन्होंने एक लड़की और एक लड़का पैदा किया। युवा होने पर भी इस जोड़े को कामेच्छा उत्पन्न न हुई, तब सिंगबोंगा ने विचार करके चावल की शराब तैयार करवाई। उसके पीने से उस जोड़े की कामुकता बढ़ गई। उस जोड़े के १२ पुत्र और १२ पुत्रियाँ हुईं। इनके युवा होने पर सिंगबोंगा ने नाना प्रकार के पशुओं, पक्षियों और कंद-मूल-फलों को एकत्र करके सबको भोज देने का प्रबंध किया। एक लड़का और एक लड़की का मिथुन करके प्रत्येक जोड़े को एक-एक वस्तु खाने के लिये दी। प्रथम और द्वितीय जोड़े ने बैल और शूकर का मांस खाया, इसलिये उस जोड़े की संतानों में 'कोल, भूमिजों' के पुरखे पैदा हुए। मछली खानेवाले जोड़े की संतान 'भुँइया' हैं। जिस जोड़े ने शूकर का मांस खाया, उनकी संतान 'संताल' हैं। शाकाहारी जोड़े की संतानों से समस्त 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य' पैदा हुए। बकरा खानेवाले जोड़े की संतति में 'शूद्र' हैं। इसी प्रकार उन ११ जोड़ों ने अपनी रुचि के अनुसार एक-एक वस्तु ग्रहण की, जिससे संसार की समस्त जातियाँ पैदा हुईं। अंत में एक जोड़े के लिये (खाने के हेतु) कुछ भी नहीं बचा, तब प्रथम जोड़े ने अपने हिस्से में से कुछ भाग अंतिम जोड़े को दिया, जिससे 'घसिया-जाति' पैदा हुई।"

जबलपुर और मंडला की ओर जो कोल बस गए हैं, वे प्रायः हिंदू हो चुके हैं। उनकी भाषा अब हिंदी हो गई है। छत्तीसगढ़ की सीमा पर अब भी पहाड़ी कोल पाए जाते हैं। पहाड़ी कोलों के रौतेले और खरिया* दो भेद हैं। खरिया

उनके भेद

---

* खरिया—यह शब्द 'खरखरी' से निकला जान पड़ता है, जिसका अर्थ स्याना है। उड़िया-प्रांत में पालकी उठानेवाले 'उराँव-खरिया' कहलाते हैं। ये योग मुंडा-जाति को छोटा भाई मानते हैं। इनके विवाह प्रायः अनुलोम-पद्धति से होते हैं। जो लोग गोमांस खाते हैं, वे 'बोटगोहंडी' और न खानेवाले 'बारगोहंडी' कहलाते हैं। इनके कई गोत्र हैं—जैसे कुलु (कछुवा), किरो (शेर), नाग, कंकुल (तेंदुआ, चीता), कूटो (मगर) आदि।

समगोत्रियों में विवाह नहीं होते। उन्हें पुराने ज़माने में वधू-शुल्क के लिये बहुत-से जानवर देने पड़ते थे, किंतु अब केवल नेग रह गया है। विवाह के पूर्व लड़के का पिता १२ बैल पिसान के बनाकर और उन्हें एक पत्तल में रखकर अपने संबंधी के घर भेजता है। उनमें से २ बैल लड़की का पिता रख लेता और नक़द ४ रुपए भेजता है।

विवाह कराने के लिये वर-यात्रा में पुरुष नहीं जाते। ग्राम के निकट पहुँचने पर लड़कीवाले स्वागत करने के हेतु ग्राम के बाहर आते हैं। वधू किसी रिश्तेदार के कंधे पर बैठकर आती है, और वहीं वर-वधू दोनो का मिलाप होता है, और उसी अवसर पर बाजे के ठेके पर दोनो नाचने लगते हैं। वहाँ से घर आने पर वर को बराती लोग मंडप में लाकर एक हल पर खड़ा करते हैं, और वर का फूफा या बहनोई एक आम की डाली से कलश का जल छिड़कता है, और उस जोड़े को स्तंभ की ७ बार परिक्रमा (भाँवरें) करनी पड़ती हैं। विवाह हो जाने पर लोग खाते-पीते रहते हैं। उसी रात्रि को

अपने विवाह सौतेले के यहाँ कर लेते हैं, पर अपनी कन्या उन्हें नहीं ब्याहते। इस जाति में भी कई गोत्र प्रचलित हैं। उनमें से कुछ के नाम दिए जाते हैं। जैसे—ठकुरिया, कगवरिया, देसहा, पहरिया, बरगैंया, मुड़िया, नथुनिया कुमरिया, रजबरिया, दहैतिया, कठौतिया, कथरिया आदि।

सिंहभूमि की ओर और मध्यप्रांत की पूर्वी ज़मींदारियों में 'लरका'-जाति के कोल पाए जाते हैं। इन्होंने अब तक अपनी संस्कृति की रक्षा की है। ये लोग आज भी अर्धनग्नावस्था में हैं। एकमात्र 'बटई' (कोपीन या लंबी लँगोटी) से इनका काम चल जाता है। स्त्रियों के लिये ६ गज़ी साड़ी पर्याप्त है। ये लोग किसी के साथ रहना पसंद नहीं करते। पुराने ज़माने में ये लोग दलबद्ध होकर एक ही पल्ली (मुहल्ले) में रहते थे। इनके निकट केवल लुहार, जुलाहे और ग्वाले ही रहने पाते थे। ये लोग इतने बदसूरत नहीं होते, जितने संताल और भूमिज हैं। स्त्रियाँ अपने केशों को अच्छी तरह ऐंठकर और उसका सुंदर गुच्छा बनाकर दाहने कान के पास तक लाती और उसे सुंदर फूलों से सजाती हैं। जंगली पदार्थों के अलंकारों के बीच में रुद्राक्ष की माला, हाथ में पीतल

वर-वधू एक कमरे में शयन करते हैं, और प्रातःकाल होते ही स्नान करने के हेतु नदी पर जाते हैं। वहाँ से घर आते ही एक मुर्गे को मारकर उसका रक्त वे दंपति चखते हैं। विधवा-विवाह एक भोज देने से ही हो जाता है।

इनका प्रधान देवता 'बंद' है। टोपनो-कुल के लोग बंदर तक खाते हैं। इनकी पंचायत के कार्यकर्ता परधान (सामर-कुल का), नेगी (सुमेर-कुल का) और गांडा (वर्या-कुल का) होते हैं। परधान पानी देकर शुद्ध करता है, नेगी भोज की व्यवस्था करता और गांडा सबको न्योता देता है। ये भी शराब और नृत्य-प्रेमी होते हैं।

या काँसे के कंकण और पैरों में नूपुर पहनती हैं। लोहार इन नूपुरों को बड़ी कठिनाई से पहनाता है।

ये लोग साहसी, उत्साही और निर्भीक होते हैं। मानापमान के लिये सतर्क रहते हैं। इनके विवाद में लड़ाई तक छिड़ जाती है, और तब कई मनुष्य हताहत हुए विना नहीं रहते। यह भी देखा गया है कि ये लोग विजातीय जातियों से मुठभेड़ लेने के लिये परस्पर के विवादों को भुला देते हैं। सभी कोल जातीय रक्षा के लिये सदैव तैयार रहते हैं।

जबलपुर और रीवाँ के कोलों के विवाह हिंदुओं के समान होते हैं,

विवाह-संस्कार

किंतु इस जाति की असली प्रथा आज भी झारखंड के 'लरका' कोलों में प्रचलित है। मुंडा और उराँवों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। कोलों में दहेज़ की प्रथा होने से बहुत-सी युवतियाँ अधिक दिनों तक क्वाँरी रहती हैं। कई युवतियाँ क्वाँरे युवकों का मन हरने की चेष्टा करती हैं। प्रायः युवकों के साथ नाचती, पुष्पों को तोड़कर सजाती हैं, और प्रेम हो जाने पर दोनो विवाह कर लेने की चेष्टा करते हैं। पर कभी-कभी दहेज़ उनकी आशाओं पर पानी फेर देता है। लड़के का पिता ही दहेज़ का निपटारा करता है। यह समस्या हल हो जाने पर फिर आमोद की सीमा नहीं रहती। नियत समय पर विवाह के लिये दोनो पक्ष के लोग अपने-अपने स्थानों से चल पड़ते हैं। वधू अपनी सहेलियों-सहित गाती हुई चलती है। उसी प्रकार वर भी अपने सखाओं-सहित प्रस्थान करता है। रास्ते ही में दोनो का मिलाप होता है। वहाँ से वे लोग निकटवर्ती सुंदर स्थल पर पहुँचते हैं। यहीं वह जोड़ा खूब नाचता है, और वहाँ जितनी स्त्रियाँ होती हैं, सबकी गोद में बैठता है। कुछ समय के पश्चात् बराती लोग पल्ली में पहुँचते हैं। वहाँ कन्या के घर पर भोज और शराब की व्यवस्था रहती

में आते ही वर और वधू, दोनो एक स्तंभ की ७ बार परिक्रमा

करते हैं, और वर सिंदूर लेकर वधू की माँग में भरता है। पहाड़ियों में सिंदूर लगाने को प्रथा ही प्रधान है। इसी अवसर पर वर और वधू, दोनो नाचते हैं। दोनो एक-एक शराब के प्याले हाथ में लेकर एक दूसरे के प्याले में थोड़ा-थोड़ा डालकर पीते हैं। इधर बराती शराब और नाच में मस्त रहते हैं।

विवाह होने के पश्चात् तीन दिन तक वह जोड़ा एक साथ रहता है। किंतु पीछे नवविवाहिता चुपके से वर के घर से भाग जाती है, और पिता के यहाँ पहुँचकर सबसे कहती है कि "मुझे ऐसा पति नहीं चाहिए।" उधर उस लड़की का पति उसे खोजता हुआ ससुर के यहाँ पहुँच जाता और उसे ज़बरदस्ती पकड़ लेता है। इस समय वधू कुछ रूखापन दिखाती और कुछ प्रतिकार भी करती है। तब उसका पति उसे ज़बरदस्ती खींचकर कंधे पर उठा ले जाता है। स्त्री ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाती है, और लोग हँसते रहते हैं। इस प्रकार घर ले जाने पर वह जोड़ा आनंद से जीवन व्यतीत करता है। कोल-मुंडा या उराँव-स्त्री अपने पति को ही सर्वस्व समझती है। कहीं-कहीं लड़की स्वयं पति के घर पहुँच जाती है। इनके विवाह प्रायः अगहन, माघ और फाल्गुन में होते हैं। विधवा-विवाह और तलाक़ की व्यवस्था पंचायत द्वारा होती है। जबलपुर की ओर जब कोई कोल-स्त्री पति से संबंध-विच्छेद करती है, उस समय वह पंचों के सम्मुख चूड़ियाँ फोड़ डालती है।

जबलपुर के कोल हिंदुओं के समान मृतक-संस्कार करते हैं, किंतु लरका कोलों की विधि इस प्रकार की होती है—

अंत्येष्टि-संस्कार

ये लोग मुर्दे को जलाते हैं। दाह-संस्कार के लिये सुंदर लकड़ियाँ लाते हैं। शव को गरम पानी से नहलाकर सारे शरीर में तेल और हल्दी लगाते हैं। कंधा देनेवाले अच्छा सगुन देखकर उठाते हैं, और चिता पर शव के साथ उसके वस्त्र, कुछ द्रव्य, उसके कुछ गहने, शस्त्र और थोड़ा-सा भोजन रखकर उसे जलाते हैं। अग्नि-संस्कार

के दूसरे दिन अस्थि-संचय करते हैं। छोटी-छोटी अस्थियाँ गाड़ दी जाती हैं, और बाक़ी एक कोरे कलसे में रखते हैं। घरवाले उस पात्र को घर ले आते और उसे एकांत स्थान में रख देते हैं। जितने दिन तक घर में अस्थियाँ रहती हैं, उतने दिन तक रोना-धोना होता है।

अच्छा दिन देखकर ये लोग अस्थियाँ उठाने का समारोह करते हैं। सुबह होते ही ढोल की आवाज़ से समस्त ग्रामवासियों को सूचना दे दी जाती है। आठ बालिकाएँ दो क़तार में घर के द्वार पर खड़ी रहती हैं। मृतक की माता या स्त्री उस अस्थि-पात्र को छाती या माथे से लगाकर रोती हुई द्वार के बाहर निकल आती है। आगे-आगे अस्थिवाहिका और उसके पीछे दो क़तारों में बालिकाएँ चलती हैं। पहली पंक्ति की बालिकाओं के हाथ में एक-एक ख़ाली घड़ा रहता है। साथ में चार-पाँच पड़ोसी ढोल बजाते हुए अग्रसर होते हैं। यह बाजा शोक और विषाद-युक्त बजाया जाता है। बाजे की आवाज़ सुनकर, ग्रामवासी घर से बाहर निकलकर द्वार के सम्मुख खड़े रहते हैं। निकटवर्ती प्रत्येक द्वार पर वह अस्थि-पात्र उतारकर नीचे रक्खा जाता है। लोग उसे श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम करते हैं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ वह मृतक आया-जाया करता था (जिस बाग़, उपवन, खेत तथा घरों में प्रायः जाता था।), वहाँ-वहाँ उस पात्र को फिराकर अंत में जहाँ अस्थियाँ गाड़ने का निश्चय होता है, उस स्थान पर पहुँचते हैं। प्रायः गृह के निकट या उसके खेत में एक गड्ढा तैयार रखते हैं। पास ही एक विशाल शिला भी रखते हैं। घर के लोग उस गर्त में चावल, पुष्प और द्रव्य-सहित उस पात्र को रख देते हैं। मिट्टी से ढँक देने पर २०-२५ मनुष्य मिलकर उस पर एक विशाल शिला रख देते हैं। यह कार्य करके सभी लोग नदी या पोखर में नहा-धोकर घर पहुँचते हैं। घर की सफ़ाई कर लोग पुरानी हँडिया अलग कर देते हैं। घर में मृतक के नाम से पूजन आदि

करके एक बकरा मारते हैं, जिससे ग्रामवासियों की दावत होती है। इस कार्य में कम-से-कम साधारणतः २५-३० रुपए खर्च होते हैं।

गोंडों के समान आदि कोलों के अनेकों देवता हैं। धरती माता, भैंसासुर, ठाकुरदेव, दूल्हादेव भी पूजे जाते हैं। देवताओं के पूजन के लिये लरका कोल वर्ष में ७ पर्व मनाते हैं—

इनके पर्व

पहला पर्व 'देशौलीबोंगा' माघ-मास की पूर्णिमा को होता है। इसका दूसरा नाम मदनोत्सव उपयुक्त होगा। इस पर्व के लिये प्रत्येक पहाड़ी मनुष्य उत्सुक रहता है। लोग इस पर्व पर उन्मत्त हो जाते हैं। इस अवसर पर पिता, माता, भाई, बहन आदि कुटुंबियों की लज्जा त्याग-कर आमोद-प्रमोद, गाली-गलौज करते हैं। सभी अपनी प्रेयसी को लेकर, घर या जंगल में सुरा-पान करके विहार करते हैं। जो लोग कभी बुरी बात नहीं कहते, वे भी इस समय मुँह खोल बैठते हैं। यहाँ तक कि पुत्र पिता के सम्मुख अपनी प्रेमिका का चुंबन लेने में नहीं सकुचाता। युवक-युवतियाँ अपनी-अपनी मंडली में पहुँचकर रास-क्रीड़ा करती हैं। विवाहिता अपने पति के साथ आनंद करती हैं, और अविवाहित भी कुछ समय के लिये अपनापन भूल जाते हैं। उनका विश्वास है, इस पर्व पर भूत-प्रेत आनंद करने के हेतु विचरण करने लगते हैं। इसलिये सभी लोग (चाहे स्त्री हो या पुरुष) बाहर जाने के समय लाठी लेकर चलते हैं। इससे भूत-प्रेत भाग जाते हैं। सुरा-पान, भोज और नाच में लोग रात्रि व्यतीत करते हैं।

दूसरा पर्व 'बहबोंगा' (मुंडा लोग सरहलबोंगा कहते हैं।) चैत्र-मास में होता है। इसे 'पुष्पोत्सव' कहना चाहिए। बालिकाएँ उपवन में पहुँचकर नाना भाँति के पुष्प लेकर घर आती हैं। गृह-द्वार फूलों की मालाओं से सजाए जाते हैं। सभी लोग पुष्पों का शृंगार करते हैं। लोग दो दिन तक नाच-गाना करते हैं। इस अवसर पर

प्रत्येक गृहस्थ कम-से-कम एक मुर्गी मारता है। इनका नाच भी गोंडों से मिलता-जुलता है।

तीसरा पर्व ज्येष्ठ-मास में 'डुमरिया पर्व' होता है। इस दिन कृषि-रक्षा के हेतु भूत-प्रेतों का पूजन होता है। लोग एक-दो मुर्गी मारकर इसे संपन्न करते हैं।

चौथा पर्व आषाढ़ में 'हरिबोंगा' का त्योहार होता है। उस देवता के नाम से लोग एक मुर्गी, थोड़ी-सी शराब और मुट्ठी-भर चावल चढ़ाते हैं।

पाँचवा पर्व श्रावण में 'बहतोलाबोंगा' होता है। इस दिन प्रत्येक गृहस्थ कम-से-कम एक मुर्गी मारकर खाता और उसके पंख बाँधकर खलिहान में गाड़ देता है।

छठा पर्व भाद्रपद में सिंगबोंगा (सूर्य देवता) के नाम पर प्रत्येक कोल नया धान और सफ़ेद मुर्गा अर्पण करता है; क्योंकि शुभ्र वस्तु ही सूर्य को प्रिय है, यह उनका विश्वास है।

सातवाँ पर्व धान कट जाने पर अंतिम पर्व 'कलमबोंगा' कहलाता है। कोलों के पर्वों पर शराब, भोज, नाच आदि उत्सव होते हैं। कोल मुंडाओं के प्रधान देवता सिंगबोंगा, बरुबोंगा, मुरंगबरुआ और पाटसारना हैं। मनुष्यों के पूजन में भैंसे की बलि और स्त्रियों के पूजन में मुर्गियाँ चढ़ती हैं। जबलपुर के कोलों के देवता हिंदू-देवता हैं। मुंडा कोल गाय, बैल, भैंसा, शूकर, साम्हर, हरिण आदि सभी जानवरों का मांस खा जाते हैं, यहाँ तक कि बंदर और शेर तक नहीं बचने पाते। छुआ-छूत का विचार इनमें भी है—नीच वर्णों के यहाँ भोजन नहीं करते। जबलपुर-मंडला के कोल गोमांसादि स्पर्श नहीं करते। वे लोग कुर्मी, तेली, अहीर, कलार आदि जातियों के यहाँ खाते हैं।

बालक का जन्म होते ही घर के अन्य लोग घर छोड़ देते हैं, केवल माता-पिता रहते हैं, और उनको ८ दिन का अशौच रहता है। पति ही स्त्री के लिये भोजन आदि

इनकी कुछ रस्में

पकाता है। आठवें दिन घर साफ़ करके अर्थात् घर की शुद्धि करके रहते हैं। ये लोग भी गोंडों के समान नाम रखते हैं। रजस्वला स्त्री पाँच दिन तक घर में नहीं आने पाती और न किसी पर उसकी छाया पड़ने पाती है। मुंडा कोलों का गोंडों के समान जादू-टोना, भूत-प्रेतों पर अटल विश्वास है। इनकी अवकृपा से मनुष्य बीमार होता है। कर्नल डाल्टन ने इसका रोचक वर्णन किया है। बीमारी आते ही ये लोग 'सोका' को बुलाते हैं, और वह अपनी कला से यह बतलाता है कि उस बीमार पर किसकी अवकृपा हुई है। लोग झाड़-फूँक करके ही बीमारियाँ अच्छी करते हैं। कहते हैं, संबलपुर के मुंडा प्रेत दफ़नाने के पूर्व उसे शराब से स्नान करवाते थे। उठानेवाले वहीं बैठकर शराब पीते थे। बाद में स्नान करके, तालाबों से मछली पकड़कर, घर लाकर खाते-पीते हैं। सूतक में (आठ दिन तक) ये लोग मांस नहीं खाते, किंतु मछली खाते हैं। एक अँगरेज़ ने इस जाति का विवरण देते हुए लिखा है कि ये लोग पुराने ज़माने में मनुष्य-वध समारोह के साथ करते थे। ग्राम के नर-नारी ग्राम के बाहर एक पीपल के नीचे एकत्र होते थे, और जिसका बलिदान करना होता था, उसे उलटा बाँध देते थे, और नीचे धीमी आग सुलगाते थे। इधर लोग चारों ओर नाच-गाना करते थे। थोड़ी देर बाद लोग उस प्रसाद को खा जाते थे। पर आजकल यह केवल कहानी ही रह गई है। ये लोग अन्य पहाड़ी जातियों के समान जातीय झगड़े पंचायतों द्वारा निपटाते हैं।

ये लोग भी नाच और गाने के शौक़ीन होते हैं। आजकल ये लोग भी गोंडों के समान 'करमा'-शैली का नाच करते हैं। स्त्री और पुरुष आमने-सामने खड़े होते हैं, मध्य में ढोल बजानेवाले रहते हैं। ढोल के ठेकों पर स्त्री और पुरुष हाथ पकड़कर, झूम-झूमकर गोलाकार नाचते हैं। मर्द यदि एक पैर आगे बढ़ते हैं, तो स्त्रियाँ एक पैर पीछे हटती हैं। इसी क्रम से नाच होता है।

गोंडों के समान कोलों की उँचाई ५ फ़ीट ६ इंच होती है। शरीर की बनावट गठीली, रूप-रंग में अधिक काले, नाक चौड़ी, मस्तक छोटा-सा, ऊपर का ओंठ अधिक मोटा, ये सभी बातें द्राविड़ी-जाति की मिलती हैं, किंतु विद्वान् लोग कहते हैं, ये लोग गोंडों के पूर्व यहाँ रहते थे। स्त्रियाँ अपने बालों को अच्छा सँवारती हैं, और आभूषण-प्रिय हैं। गले में सुतिया और नाना रंग के मनकों की मालाएँ पहनती हैं। हाथ में चाँदी या काँसे के कड़े या कंगन पहनती हैं। ६ गज़ी एकमात्र साड़ी से काम चल जाता है। छाती ढाँकने के लिये अन्य उपवस्त्र की ज़रूरत नहीं। कानों में वज़नी करनफूल पहनने से उनके कान लटक आते हैं।

रूप-रंग और भाषा

सर ग्रियर्सन कहते हैं, कोल, मुंडारी, संताली, भूमिज और कोरवा आदि जातियों की बोलियाँ एक ही वंश की हैं। सन् १९११ में केवल एक सहस्र के लगभग मुंडारी बोलनेवाले इस प्रांत में पाए गए थे। अन्य लोग हिंदी बोलते हैं। मंडला, जबलपुर और रीवाँ के कोल बघेली हिंदी और छत्तीसगढ़ के कोल छत्तीसगढ़ी हिंदी बोलते हैं।

मुंडा कोल आज तक जंगली जानवर, कंद, मूल और फलों पर ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। आजकल ये अन्य व्यवसाय करते हुए पाए जाते हैं; उस पर भी अधिकांश लोग कुलीगिरी के लिये प्रसिद्ध हैं। जबलपुर के कोल मज़दूरी करके पेट पालते हैं, और छत्तीसगढ़वाले आसाम के चाय के बग़ीचों में कुली का काम करने के लिये जाते हैं। कई लोग पालकी ढोने का काम करते हैं। ये लोग कोर्ट (कचहरी) का उपयोग प्रायः करते ही नहीं।

विंध्याटवी के अंचल में



पहाड़ी कोल

विंध्याटवी के अंचल में —



कोरकू

चतुर्थ किरण

कोरकू

हिंदू-कोरकू—६५,४४६

मूल-कोरकू—८२,०५१

इस पहाड़ी जाति की आबादी अधिकतर बरार-कमिश्नरी, हुशंगाबाद, बैतूल और नीमाड़-ज़िलों में है। विद्वान् लोग इनको मुंडारी-वंश का मानते हैं। कोरकू-शब्द का अर्थ उसी भाषा में—कोर का अर्थ मनुष्य और कू बहुवचन का प्रत्यय है। कर्नल डाल्टन लिखते हैं, कोरकू और कोरवा एक ही वंश के हैं।

'मोवासी कोरकू' जरायम पेशेवर जाति है। मेलघाट का अरण्यमय प्रदेश 'मोवास' कहलाता है। पुराने ज़माने में ये लोग अवसर पाकर, पहाड़ों से उतरकर, निकटवर्ती ग्रामों को लूटकर चले जाते थे। इनके उपद्रवों से प्रजा त्रस्त रहती थी। उस समय के राजवंश इनके प्रबंध में असफल पाए जाते हैं। मुग़ल-सम्राट् अकबर के मंत्री अबुलफ़ज़ल ने लिखा है, मेलघाट के कोरकू बरार में उपद्रव न करें, इसलिये सरकार ने उसी जाति के १०० घुड़सवार और २०० सैनिक नौकरी में रक्खे थे। मराठों के शासन-काल में भी इनके प्रबंध के लिये योजना की जाती थी। ऐतिहासिक काग़ज़-पत्रों में 'तनखा मुवासी' का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ यही है कि पहाड़ी प्रांत के कोरकूओं को शांत रखने के लिये राज्य की ओर से कुछ रक़में उनके सरदारों को दी जाती थीं। पहाड़ी घाटों के प्रबंध के लिये कई लोग चाकरी में रक्खे जाते थे। प्रारंभ में अँगरेज़

सरकार को कुछ अड़चनें पड़ीं, किंतु अब वे लोग शांति-प्रिय नागरिक बन गए हैं। छोटा नागपुर की ओर भी मोवासी कोरकू पाए जाते हैं। हिस्लाप साहब मुवास-शब्द की उत्पत्ति 'महुवा'-शब्द से बताते हैं। मराठे लोग मोवासी का अर्थ 'चोर से' करते हैं।

उत्पत्ति-विवरण

गोंडों के समान कोरकूओं में दो भेद 'राजकोरकू' और 'मूल कोरकू' प्रधान हैं। राज कोरकू अपने को राजवंशी क्षत्रिय समझते हैं। उनका आचार-विचार, खान-पान, रस्म-रिवाज हिंदुओं के समान हैं, और वे अपने को हिंदू ही मानते हैं। पुराने कोरकू कभी-कभी अपनी उत्पत्ति की कथाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की बतलाते हैं। राजकोरकू कहते हैं, "हमारे पूर्वज धारानगरी के राजपूत थे। किसी समय वे शिकार के लिये घर से बाहर चल पड़े, और उन्होंने जंगल में हरिण का पीछा किया। वह हरिण भागता हुआ पचमढ़ी के महादेव के निकट पहुँचा। उस पर भी उन राजपूतों ने उसका पीछा करना न छोड़ा। अंत में प्राण बचाने के हेतु वह हरिण महादेव की गुफा में घुस गया। तब तो उनको वहीं ठहर जाना पड़ा। थोड़े समय में स्वयं महादेव गुफा के बाहर आए, और उन्होंने हरिण को छोड़ देने के लिये कहा। उन राजपूतों ने यह बात मान ली, किंतु भूख से व्याकुल होने के कारण उन्होंने खाने को माँगा। महादेव ने उन्हें एक अंजुली-भर चावल पकाकर खाने के लिये दिया। उन चावलों से वे राजपूत तृप्त हो गए, और उन लोगों ने वहीं रहने का निश्चय करके शंकर की अनुमति माँगी। तब से वे लोग महादेव के पहाड़ पर रहने लगे, और उनकी संतान 'राजकोरकू' कहलाई।

आदि-कोरकू अर्थात् मूल-कोरकू अपना आदि-स्थान महादेव का पहाड़ मानते हैं, और वहीं महादेव ने इस जाति के आदि पुरुष मूला और मुलई को पैदा किया था। ये लोग भी लंका के राजा रावण को मानते हैं। महादेव ने भीमसेन को पैदा किया, इसलिये तभी से मूला के वंशज रावण

के समान भीमसेन को भी पूजने लगे। सबसे प्रथम महादेव ने सात नाज—कोदों, कुटकी, गर्गी, मंडगी, बराई, राला और धान—पैदा किए। ये ही नाज इन लोगों का प्रधान खाद्य है। इन लोगों को 'गोथरिया' भी कहते हैं।

जातियाँ और गोत्र

पहाड़ी कोरकूओं में चार भेद मुख्य हैं—(१) मुवासी, (२) बावरिया, (३) रूमा और (४) बोंडोया। मुवासी-जाति के अंतर्गत कई गोत्र हैं, जिनका विवरण अन्यत्र दिया गया है। इनके गोत्रों के नाम पशु-पक्षी, वृक्ष-लताओं पर ही अधिकतर हैं। बावरिया-जाति के कोरकू भँवरगढ़ (बैतूल-ज़िले में) के निकट पाए जाते हैं। वाशिम और अमरावती-ज़िलों में रूमा-जाति के कोरकू रहते हैं, और पचमढ़ी के आस-पास अंतिम जाति के कोरकू। वर्धा की ओर 'भोवा' कोरकू मिलते हैं। मि० क्रास्थवेट कहते हैं—४/५ कोरकू अपने को हिंदू मानते हैं। इनकी प्रत्येक जाति में पहले ३६ गोत्र थे, किंतु अब यह संख्या बहुत कुछ बढ़ गई है। इनके गोत्रों के नाम—(१) अटकुल, (२) भूरीरान, (३) देवड़ा, (४) जंबू (जामुन-वृक्ष), (५) कासदा (नदी-तट), (६) ताखर, (७) साकुम (साग-वृक्ष), (८) बनकू, (९) भोयर, (१०) बासम, (११) मरसकोला, (१२) किल्लोमसम, (१३) अकंदी, (१४) तंदिल (चूहा), (१५) छूथर (खटमल), (१६) लोबो आदि।

विवाह का तरीक़ा

ये लोग समगोत्रवालों को भाई-बंद समझते हैं। अन्य गोत्रवालों से विवाह करते हैं। विवाह के पूर्व 'बलि-दूदना'-संस्कार होता है। लड़के के पिता के लड़की पसंद कर लेने पर दो मनुष्य मध्यस्थ बनकर संबंध तय करते हैं। इस कार्य में अनेकों दिवस लग जाते हैं। जितने दिन अधिक लगते हैं, उतना ही अच्छा समझा जाता है। दायज का प्रश्न निपट जाने पर (वधू-शुल्क) पंचायत द्वारा यह रक़म (५०-६० के लग भग) निश्चित होती है।

अधिकांश कोरकू हिंदू-तरीक़े से विवाह करते हैं। हिंदी और मराठी-

ज़िले की प्रथाएँ भिन्न-भिन्न हैं। विवाह के पूर्व गृह की सफ़ाई करके ये लोग भुमका (पुजारी) को बुलवाकर मुतुवा देव का पूजन करते हैं। लड़के का पिता बेर के वृक्ष के नीचे जाकर अपने देवताओं को निमंत्रण देता है, और लोग उसके चारो ओर नाचते-गाते हैं। लड़केवाले विवाह के लिये शुक्रवार, बुधवार या सोमवार को बरात लेकर लड़की के ग्राम में पहुँचते हैं। मंडप में (जो कंबल से आच्छादित रहता है) वर और वधू को लाकर उन पर पानी छिड़कते हैं। पश्चात् वर वधू के गले में सुतिया पहनाता है। यह हो जाने पर दोनो को रिश्तेदार उठाकर आँगन में तीन बार परिक्रमा कराते हैं, और दोनो एक दूसरे पर हल्दी लगे हुए चावल फेकते हैं। हुशंगाबाद की ओर भाँवरों का कार्य वर की चाची कराती है। विवाह हो जाने पर लोग घर के देवताओं का पूजन करते हैं। बरातियों को शराब और भोज देने पर दूसरे दिन बरात बिदा हो जाती है। इनमें विधवा-विवाह और तलाक़ की प्रथा चालू है।

कुछ रस्में

ये लोग हिंदू-देवी-देवताओं को पूजते हैं। पचमढ़ी के महादेव प्रधान देवता हैं। इनके अतिरिक्त डोंगरदेव, बाघदेव, मुतुवा देव, कुनवर देव आदि अन्य देवता हैं। इनका पुजारी भूमक-जाति का होता है। ये लोग दो तरह के हैं—(१) परिहार और (२) भूमक। ये लोग जादू-टोना और बीमारियों से लोगों की रक्षा करते हैं। इनके पूजन में बकरे और मुर्गे चढ़ते हैं। भूमक हिंदुओं के ग्रामों में भी ग्राम-देवताओं का पूजन करते हैं, और ग्राम का प्रत्येक किसान उनकी जीविका के लिये कुछ देता है।

मृतक-संस्कार

ये लोग साधारणतया मुर्दे को गाड़ते हैं। मुर्दे का मस्तक दक्षिण-दिशा की ओर और साथ में दो पैसे रखकर नंगे शरीर से दफनाते हैं। दसवें दिन बाल बनवाकर शुद्ध होते हैं। घर की सफ़ाई करके 'पितर-मिलौनी' और 'सिदौली' करते हैं। बकरा आदि मारकर ये लोग बिरादरी को भोजन कराते हैं।

ये लोग गोंडों से कुछ ऊँचे होते हैं। इनका रंग साधारण काला, नाक चौड़ी, पर निग्रो के समान नहीं, मस्तक छोटा, मूछों में अल्प केश रहते हैं। ये लोग सत्यवादी और ईमानदार होते हैं। ये लोग भी अब तक जंगल पर अवलंबित थे। हुशंगाबाद और छिंदवाड़ा-ज़िलों में इस वंश के कुछ ज़मींदार हैं। कृषि के अतिरिक्त बहुत-से लोग शिकार पर ही अपनी जीविका चलाते हैं। इनकी भाषा मुंडारी-वंश की है, उसी का नाम 'कोलरियन' है।

रूप-रंग और भाषा

मुवासी कोरकू

मुवासी-जाति के कोरकू छत्तीसगढ़ और झारखंड में पाए जाते हैं। ये लोग डकैती तो करते हैं, पर चोरी करना पाप समझते हैं। ये लोग कोरबा-जाति के यहाँ खाते हैं, पर विवाह-संबंध नहीं करते। कहते हैं, इस जाति के उत्पादक नागा भुइयाँ और नागी भुइँयानी हैं। इस जाति में १६ कुनबे हैं—जैसे मंगर, सेकुटमबार, मनवार, नागवंशी, पटेल, घटियार, मैनपुरिया, सिगरठिया, अरहा, भुरिहा, पराशा, तिलोहिया, गुरहा, कनारी, घोकिया और कंपडिहा।

छत्तीसगढ़ के मुवासी अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। हिंदू-देवताओं के अतिरिक्त इनके ६ प्रधान देवता हैं। उनमें 'चितावरदेव' मुख्य है। इस देवता का निवास-स्थान चितावर-वृक्ष में है। मुवासी बैगा इनका पुजारी होता है। बैगा चितावर-वृक्ष के पौदे को लेकर, चीतल के सींग में भरकर उस सींग का मुख लाख से बंद कर देता है। रात्रि में मुवासी बैगा उस सींग को लेकर अपने यजमान के यहाँ पहुँचता है। वहाँ घरवाले उस सींग की विधिवत् पूजा करते हैं। चितावर देवता उस सींग में प्रवेश करता है। प्रायः देखा जाता है, कुछ देर बाद ही वह

सींग हिलने लगता है, और क्रमशः घूमने का वेग बढ़ता ही जाता है। लोग समझते हैं, यह सब चितावरदेव की करामात है। पूजा-पाठ हो जाने पर बैगा उस वृक्ष को सींग से बाहर निकालता है। पश्चात् उस झाड़ को सरसों के तेल में भूनकर उसका काजल बनाते हैं। लोगों का विश्वास है, इसके लगाने से भूत-बाधा नहीं होती। चितावर के वृक्ष बाँस के समान पैदा होते हैं। ये दो तरह के होते हैं—एक बालक चितावर (लाल रंग का) और दूसरा बूढ़ा चितावर (काले रंग का)। इस देवता के पूजन में बलिदान करना आवश्यक है।

मुवासियों का दूसरा देवता घनश्याम कहलाता है। कहावत यह है कि यह घनश्याम सिरगुजा-रियासत में एक गोंड राजा था। वृद्धावस्था में राजा के एक पुत्र हुआ। इसलिये उसका लालन-पालन बड़े चाव से किया गया। उसके विवाह के अवसर पर राजा 'बड़कादेव' की पूजा करना भूल गया। परिणाम यह हुआ कि बड़कादेव रुष्ट हो गया। भाँवरों के समय देवता ने व्याघ्र का रूप धारण कर राजा लाहा ठाकुर, राजकुमार, पंडित घसियाजी (पुरोहित) और राजा की दोनो रानियों (कछिया और अगिया) को मार डाला। वे पाँचों ही तब से देवता-रूप माने जाने लगे। बैगा पूजन के समय पाँचों का नाम लेता है। घनश्याम की पूजा दशहरा और होली में करते हैं।

मुवासी कोरकू-जाति के प्रायः सभी रस्म-रिवाज छत्तीसगढ़ के कोरबों से मिलते-जुलते हैं, इसलिये उनका विवरण यहाँ नहीं दिया गया।

पंचम किरण

कोरबा

हिंदू-कोरबा—१८,६२५

पहाड़ी कोरबा—७,५८६

इस प्रांत की सभी पहाड़ी जातियों के हिंदू और मूल, दो भेद सरकार ने मर्दुमशुमारी के अवसर पर किए हैं। वास्तव में हम सभी पहाड़ी जातियों को हिंदू मानते हैं। कोरबा-जाति के लोग बिलासपुर-ज़िले में पाए जाते हैं। मानव-शास्त्री इस जाति की गणना मुंडारी-वंश में करते हैं। उनका कहना है, कोरकू और कोरबा एक वंश की दो शाखाएँ हैं। सिरगुजा, जशपुर-रियासतों में इनकी आबादी अधिक है। झारखंड के आदिवासी कोरबा अपने को उसी अंचल के निवासी मानते हैं।

इनके भेद

इस जाति के चार प्रधान भेद पाए जाते हैं—(१) अगरिया, (२) दंड, (३) डिहरिया, (४) पहड़िया या बेवरिया। डिहरिया ग्रामों में निवास करके कृषि करते हैं। पहड़िया जंगल-निवासी हैं, और वे लोग 'बेवरिया' भी कहलाते हैं, क्योंकि इनकी किसानी अधिकतर 'बेवर'-तरीक़े से होती है। कोड़ाखू भी इसी वंश के जान पड़ते हैं। (कोड़ा का अर्थ युवा मनुष्य होता है।) इनके गोत्रों के अनेकों नाम पशु-पक्षी और जंगली पदार्थों के नामों पर ही पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ आम, धान, शेर, बीछी, नाग, पशुना, मूड़ी आदि। मूड़ी कहते हैं कि उनके पूर्वज मुर्दे की चार खोपड़ियों का

चूल्हा बनाकर भोजन पकाते थे, इसलिये उनके वंशज मूखी कहलाते हैं। समगोत्री भाई-बंद होते हैं।

डिहरिया (डीह) अब ग्रामों में बसकर किसानी करते हैं। वे लोग

कोरबों की उत्पत्ति

अपना मूल-स्थान 'खुरिया' मानते हैं। वे कहते हैं, जिस समय उनके पूर्वजों ने सिरगुजा-रियासत में प्रथम बस्ती की, उस समय यह प्रदेश घने जंगलों से व्याप्त था। इनके पूर्वजों ने ही यहाँ मनुष्यों को बसवाया। जंगली पशुओं का विशेष उपद्रव होने से इन लोगों ने उनको डराने के हेतु भयंकर आकृतियाँ बनाकर बाँसों के सहारे अपने खेतों में टाँग दी थीं। इन आकृतियों को देख-कर जंगली पशु उस स्थान से भाग जाते थे। कुछ वर्षों बाद बड़ेदेव ने यह सोचा कि यदि इन आकृतियों में जान डाल दी जाय, तो लोगों के हमेशा के कष्ट बच जायँगे, और जानवरों का उपद्रव कम हो जायगा। इसी कारण बड़ेदेव ने उन आकृतियों में जान डाल दी। तब से वे लोग जंगल के निवासी हो गए। कोरबों की उत्पत्ति वे लोग इस प्रकार बतलाते हैं।

पहाड़ी कोरबा देखने में राक्षस-से डरावने जान पड़ते हैं। वे कृष्ण-

रूप-रंग और आदतें

काय, गठीले बदन, मुँह चपटे और बलवान् होते हैं। मि० डाल्टन ने अँगरेज़ी में इस जाति का सुंदर विवेचन किया है। साधारणतः कोरबा पुरुष उँचाई में सवा पाँच फ़ीट और स्त्रियाँ ४ फ़ीट, ६-१० इंच होती हैं। पुरुष सिर पर लंबी चोटियाँ रखते हैं। सर ग्रियर्सन कहते हैं, कोरबों की बोली 'आसुरी बोली' से निकट का संबंध रखती और वह संताली मुंडारी से मिलती-जुलती है। संताल लोग इन्हें 'मांजही' कहते हैं। डिहरिया अब तो बहुत कुछ सुधर गए हैं, और उनकी बोली, रस्म-रिवाज, खाना-पीना, छत्तीसगढ़ी-शैली का हो गया है। पहड़िया अब भी असभ्य-से दिखलाई देते हैं। वे जंगलों में छोटे-छोटे ग्राम बसाकर बेवर की कुछ खेती कर लेते हैं, किंतु

अधिकतर शिकार और जंगली कंद-मूल तथा फलों पर निर्वाह करते हैं। इनके शस्त्र धनुष, बाण, भाला, कुल्हाड़ी आदि हैं। मर्द के लिये एक पंचा और स्त्रियों के लिये ६ गज़ी साड़ी पर्याप्त है। २-३ वर्षों से अधिक एक स्थान पर नहीं रहते—स्थान-परिवर्तन प्रायः किया करते हैं।

इनके विवाह

आजकल भी ये लोग समगोत्रियों में विवाह नहीं करते। सरकारी अफ़सरों ने लिखा है—"कोरबा ज़मींदारी में पहाड़ी कोरबा कभी-कभी अपनी बहन के साथ विवाह कर लेते थे।" प्रत्येक कोरबा को विवाह के लिये वधू-शुल्क देना आवश्यक है। यह रक़म १५ से २५ रुपए तक होती है। प्रायः युवक और युवतियाँ अपना विवाह निश्चित करते हैं। माता-पिता से केवल सम्मति ले ली जाती है। एक पुरुष प्रायः कई शादियाँ करता है। ये लोग भुइयाँ लोगों के समान विवाह-संस्कार करते हैं। विवाह पर ब्राह्मण की आवश्यता नहीं होती—घर की स्त्रियाँ ही सारा कार्य निपटाती हैं। बच्चा होने तक स्त्री अपने पति के साथ रहती है, बाद में अलग रहने लगती है। प्रत्येक स्त्री अपने खाने-पीने तथा वस्त्रों का प्रबंध स्वयं करती है। इतना ही नहीं, बल्कि स्त्री को चौथाई अंश पति को देना पड़ता है। यही कारण है उनके बहु-विवाह का। जिस पुरुष की जितनी अधिक स्त्रियाँ होती हैं, वह उतने ही आराम से अपनी ज़िंदगी बिताता है। जो मनुष्य अपनी स्त्री को त्याग देता है, उसे पाँच दिवस तक पंचों की मेज़बानी करनी पड़ती है। बड़े भाई के मर जाने पर विधवा भौजाई अपने देवर के साथ संबंध कर लेती है। तलाक़ की प्रथा इनमें है। इनके यहाँ विवाह आदि के अवसर पर मांस और धान की शराब खूब चलती है। उँरावों के समान इनके यहाँ के अविवाहित बालक और बालिकाएँ रात्रि में 'धुमकुरिया' में जाकर सोती थीं, किंतु ग्राम के ऐसे स्थान अब नष्ट हो चुके हैं। धुमकुरिया के विषय में विशेष विवरण उँरावों के परिच्छेद में दिया गया है :

पुराने ज़माने में कोरबा जहाँ मरता था, वहीं गाड़ दिया जाता था,

मृतक-संस्कार

किंतु अब मरघट में जाते हैं। दफ़न-क्रिया प्रायः जंगल में होती है। मुर्दे का सिर दक्षिण दिशा की ओर रहता है। उसके वस्त्र, हथियार और खाने के लिये थोड़ा-सा भात रखकर मुर्दे को गाड़ देते हैं। ऊपर से साल-वृक्ष की डालियाँ रख देते हैं। यहाँ से लौटते समय अधबीच में घर का सयाना थोड़ी-सी आग जलाकर उस पर प्रेत के निमित्त घी छोड़ता है। उस समय जंगल से जो आवाज़ सुनाई देती है, वह मृतात्मा की समझी जाती है। ४वर्ष से कम अवस्थावाले बच्चे वट-वृक्ष के नीचे गाड़ दिए जाते हैं। छत्तीसगढ़ की प्रायः सभी पहाड़ी जातियों के रस्म-रिवाज, खान-पान आदि एक दूसरी जाति से मिलते-जुलते हैं।

इनके कई देवता हैं—जैसे 'दूल्हादेव'। गोंड और कोरबा, दोनो

देवता और त्योहार

उसके पूजक होते हैं। खुरिया रानी सबमें प्रधान समझी जाती है। इसके विशेष पूजन में निकटवर्ती ग्रामों के लोग ४०-५० भैंसे, बहुत-से बकरे और मुर्गे मारते हैं। ठाकुर देवता की कृपा से लोगों को अन्न मिलता है। इसकी मनौती से हैज़ा और माता का प्रकोप शांत होता है। ये लोग तीन उत्सव प्रतिवर्ष मनाते हैं—(१) पूस की पूर्णमासी को 'देवयान'-उत्सव होता है। (२) कुँवार में नवान्न (नयाखाई) त्योहार होता है, क्योंकि इस समय किसानों के यहाँ मोटा धान कटकर घर आ जाता है। (३) होली तो सभी का अंतिम वर्ष का पर्व है। इनके त्योहारों पर शराब और बलिदान की अधिकता रहती है।

कोरबा धनुष चलाने में निपुण होते हैं। उड़ती चिड़िया और भागते

शिकार

हुए जानवर इनके तीर के निशाने से बच नहीं सकते। शिकारी जाति होने से इस कला में इनके यहाँ का बच्चा भी निपुण होता है। बंदरों को जिस प्रकार जंगली फलों की पहचान

होती है, उसी प्रकार प्रायः प्रत्येक पहाड़ी कोरबा वृक्ष को देखकर जान लेता है कि अमुक कंद खाने योग्य है या नहीं। वे लोग आज भी डकैती करते हुए पकड़े जाते हैं, पर चोरी नहीं करते। स्त्रियाँ और पुरुष, दोनो झुंड-के-झुंड डाका डालने जाते हैं। इनकी डकैती प्रायः पथिकों पर या अहीरों के जानवरों पर होती है। मनुष्य-वध इनके लिये साधारण बात है। डकैती के लिये प्रस्थान करते समय 'सगुन' देखना प्रधान बात है। सगुन कई प्रकार से देखे जाते हैं। उदाहरण के लिये—जैसे मुर्गी के सम्मुख थोड़े-से चावल फेकने से वह उन्हें चुग लेती है, तब समझते हैं, अच्छा माल हाथ लगेगा। बच्चे का रोना ख़राब समझा जाता है। एक अधिकारी ने यह कथा इसप्रकार कही है—"एक कोरबा जिस समय घर से रवाना होने को था, उसका २॥ वर्ष का बच्चा रो पड़ा। उसने बड़ा असगुन माना, और लड़के को उठाकर एक पत्थर पर पटक दिया, जिससे वह चूर-चूर हो गया।"

कहानियाँ

शिकार में जाते समय ये लोग अक्सर कहानियाँ कहते हुए रास्ता तय करते हैं, और समझते हैं, इससे शिकार में सफलता मिलती है। सरकारी कर्मचारियों ने ऐसी कहानियों के नमूने भी दिए हैं— 'एक ग्राम में ७ भाई आपस में बड़े प्रेम से रहा करते थे। उन सबमें छोटे का नाम चिल्हड़ा था। एक दिन शिकार करने के हेतु सातों भाइयों ने हाँका किया। वे सभी चारों ओर रास्ता घेरकर, अपने हथियारों को लेकर छिप गए। भाग्य-वश चिल्हड़ा जिस ओर बैठा था, उसी तरफ़ से वह जानवर भाग निकला, और वह न मार सका। शिकार हाथ से निकल जाने पर उसके अन्य भ्राता क्रोधित होकर कहने लगे— 'हम लोग दिन-भर से भूखे हैं, और तेरा निशाना ख़ाली गया।' चिल्हड़ा चुप रहा। उन भाइयों ने माहुल की रस्सियाँ बनाकर एक थैला तैयार किया, और उसी में उसे बंद करके पास की नदी में फेक दिया, और वे सब भाई घर लौट गए। थोड़ी देर बाद एक साम्हर नदी में पानी पीने

आया। आहट सुनकर चिल्हड़ा ने बोरे के भीतर से कहा—'हे साम्हर दादा, इस बोरे को सूखे में कर दे, तो मैं तेरा उपकार मानूगाँ।' साम्हर को दया आ गई। उसने अपने सींगों से उसे सूखे में कर दिया। सूखे में आते ही उसने फिर कहा—'मुझे बोरे से निकाल दे।' साम्हर ने उस बोरे का मुख अपने दाँतों से खोल दिया। चिल्हड़ा बाहर निकल आया। उसने सोचा, इस बोरे में साम्हर को पकड़ना चाहिए, अतएव उसने कहा—'हे साम्हर भाई, देख तो, यह बोरा कितना बड़ा है।' सरल स्वभाव से साम्हर उस बोरे में घुस गया। चिल्हड़ा ने उस बोरे का मुँह बंद कर दिया। साम्हर को उसके उपकार का बदला उसने इस प्रकार दिया। चिल्हड़ा उस बोरे को कंधे पर उठाकर घर ले गया। उसे आते देखकर अन्य भाइयों ने सारा हाल पूछा। वृत्तांत सुन लेने पर उन्होंने भी विचार किया कि यदि हम लोग ऐसा करें, तो अनायास ही बहुत-सा शिकार मिल जायगा। उन्होंने जंगल में जाकर माहुल की रस्सी के बोरे बनाए, और प्रत्येक भाई एक-एक बोरे में घुस गया। चिल्हड़ा उन बोरों को अच्छी तरह बाँधकर नदी में फेंक आया। परिणाम यह हुआ कि वे लोग नदी में डूबकर मर गए। चिल्हड़ा घर लौट गया, और आनंद से जीवन बिताने लगा।"

यह कोरबा-जाति की जातीय कहानी है, जिससे उनकी मनोवृत्ति का पता चलता है।

दूसरी कहानी इस प्रकार है—"एक साहूकार के १२ पुत्र थे। विवाह हो जाने पर वे लोग व्यवसाय के हेतु बाहर गए। एक दिन भिक्षा माँगता हुआ एक बैरागी उस साहू के यहाँ पहुँचा। साहू जब भिक्षा देने लगा, तब उस साधु ने इनकार करते हुए कहा—'भिक्षा मैं तुम्हारे पुत्र या पुत्र-वधू से ही लूगाँ।' साहू ने भिक्षा देने के लिये अपनी बहू से कहा। भिक्षा देने को बाहर आते ही बैरागी उसे लेकर भाग गया। तब तो वह साहू बहू की खोज करता हुआ उस साधु के

आश्रम में पहुँचा। उसने अपनी बहू को माँगा। उस बैरागी ने कहा— 'तू क्या करेगा?' उसने साहू को उसी समय पत्थर बना दिया। जब पुत्र बाहर से लौट आए, तो वे भी क्रमशः खोज करते हुए उस साधु के आश्रम में पहुँचे, और वे वहीं पत्थर बना दिए गए। अंत में सबसे छोटा लड़का रह गया। वह भी खोजने के हेतु घर से चल पड़ा। वह बैरागी के आश्रम में न गया, और समुद्र लाँघकर किनारे के एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहाँ रायगीदन और बाटगीदन पक्षियों के बच्चे घोंसले में रहते थे। एक सर्प उनको खाने का यत्न कर रहा था। उस लड़के ने ज्यों ही यह दृश्य देखा, उसने सर्प को मार डाला, और उन पक्षियों के बच्चों की रक्षा की। जब उन बच्चों के माता-पिता घर आए, तब उन्होंने सारा वृत्तांत कह सुनाया, और कहा—'जब तक उस युवक का बदला चुकाया न जायगा, तब तक हम लोग पानी तक न पिएँगे।' पक्षियों ने उस लड़के से पूछा—'तुम क्या चाहते हो?' लड़के ने कहा—'मैं सोने का तोता सोने के पींजरे में चाहता हूँ।' वे पक्षी उड़ गए, और थोड़ी देर में उन्होंने सोने के पींजरे में एक तोता ला दिया। उस तोते को लेकर वह लड़का घर लौट गया। घर पहुँचते ही वह बैरागी दौड़ता हुआ साहूकार के घर पहुँचा, क्योंकि उस पींजरे में उसका जीव रहता था। लड़के ने बैरागी को नाचने की शर्त पर पींजरा लौटा देने को क़बूल किया। ज्यों ही वह नाचने लगा, त्यों ही उसके हाथ-पैर टूटकर गिर गए। उस लड़के ने उस साधु की अंत्येष्टि की, और तोते के प्रभाव से उसे वही शक्ति प्राप्त हो गई। उसने उस स्थान पर जाकर उन पत्थरों पर हाथ फिराया, और पिता-सहित उसके सभी भाई जीवित होकर घर लौट गए। इस प्रकार वह साहूकार घर आकर आनंद से रहने लगा।"

कुछ बातें

ये लोग गोंड़ या कंवर के यहाँ तो खाते हैं, पर ब्राह्मणों के यहाँ नहीं। पहाड़ी कोरबा के हाथ का पानी सिरगुजा-रियासत के अन्य हिंदू ग्रहण करते हैं। जनन-मरण

का अशौच १० दिन का मानते हैं। इन लोगों का विश्वास है, जब जच्चा के कन्या होती है, तब वह आजी सास या सास का स्वप्न देखती है। पुत्र होने पर ससुर या अजिया ससुर का स्वप्न देखती है। विवाह होने के पूर्व प्राय: लड़कियाँ सारे शरीर को गुदवाती हैं। स्त्री या पुरुष केशों को कटवाना अच्छा नहीं समझते। पहाड़ी कोरबा सभी पशु, पक्षी या जंगल के जानवरों का मांस खाते हैं, यहाँ तक कि कुत्ते और बिल्लियाँ भी नहीं बचतीं। जंगल में ये लोग अपनी झोपड़ियाँ ऐसे स्थानों में बनाते हैं, जहाँ साधारण मनुष्य नहीं पहुँच पाते।

कर्नल डाल्टन ने इनकी नाच-शैली का वर्णन किया है। नाच के समय प्राय: मर्द अपने धनुष और बाण भी ले लेते हैं। गोलाकार के मध्य में बाजा बजानेवाले अपने वाद्य बजाते हैं। स्त्रियाँ भी भाग लेती हैं। इस नाच का परिचय भुइयाँ-जाति के नाच के वर्णन में दिया गया है।

कुड़ाखूओं की एक पृथक् जाति छत्तीसगढ़ में पाई जाती है। ये लोग

कुड़ाखू

वास्तव में कोरकू और कोरबों की शाखा में हैं, पर कृषक होने के कारण इनकी आर्थिक दशा पहाड़ियों से अच्छी है। ये लोग एक दूसरे के यहाँ खाते-पीते हैं, पर विवाह-संबंध जाति ही में सीमित है। ये लोग अपना आदि स्थान 'मालटप्पा' मानते हैं। ये लोग कहते हैं, पुराने समय में मालटप्पा में उनके पूर्वजों का एक जोड़ा रहा करता था। बहुत दिनों बाद उनके एक संतान हुई, जिसने जंगली कांदे के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खाया। इसी कारण उसकी संतान कुड़ाखू (खोदनेवाले) कहलाए। इस मूल-पुरुष का नाम 'गुसाईं बालक' कहते हैं, और आज तक प्रत्येक कुड़ाखू उनका पूजन करता है। इनका रहन-सहन कोरबों से मिलता-जुलता है। इसलिये उसके दोहराने की हम आवश्यकता नहीं समझते।

षष्ठ किरण

भूमिया, भुइयाँ या भुइँहार

हिंदू-भूमिया—३६, ६५०

पहाड़ी भूमिया—१८,६६१

भूमिया, भुइयाँ, भुइँहार या भूमिहार आदि जातियाँ आर्य और द्राविड़ जातियों के अंतर्गत व्याप्त हैं। हमारे प्रांत की पहाड़ी जातियों में यह एक प्रमुख जाति है। छत्तीसगढ़ और उड़ीसा के अंतर्गत केंवझर, गांगपुर, बुनई और बामरा के राजतिलक इसी जाति के सरदारों द्वारा होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इन राज्यों के स्थापित होने के पूर्व उस भू-भाग में इसी जाति का आधिपत्य था। भूमिया शब्द भूमि का द्योतक है।

पांडुवंशी

सिंहभूमि की ओर भूमिया अपने को 'पवन के पूत' कहते हैं। पवन-पूत का तात्पर्य हिंदू-देवता हनुमान् से हैं। इस जाति का एक देवता 'ऋषयासन' कहलाता है। ऋक्ष भल्लुक इस जाति का निर्वाचक था। हमारे प्रांत के भूमिया अपने को पांडुवंशी कहते हैं। इनमें से अधिकांश लोगों का रहन-सहन हिंदुओं के समान हो गया है, तथापि पहाड़ी अंचल के पहाड़ी भूमिया आज तक ज्यों-के-त्यों हैं। पांडुवंशियों ने अब तो अपना संबंध महाभारत के पांडवों से जोड़ लिया है। वे लोग अब यह कहने लगे हैं कि महाभारत के पश्चात् पांडवों की दो गर्भवती स्त्रियाँ दैवयोग से दक्षिण कोसल की ओर भाग आईं, और यहाँ एक के पुत्र और दूसरी के कन्या हुई। कालांतर में दोनो का विवाह हो जाने से उनकी जो संतानें हुईं, वे ही पांडुवंशी हैं। इस बात का समर्थन इनकी एक प्रथा करती है। प्रतिवर्ष फाल्गुन-मास

की प्रतिपदा को प्राय: प्रत्येक भूमिया पाँचों पांडवों की पूजा करता है। उस दिन प्रत्येक घर में पूजन के लिये कम-से-कम एक मुर्गी मारी जाती है, और पांडवों का वह प्रसाद घरवाले खाते हैं। भूमिया अपने को अब पांडुवंशी कहते हैं।

विवाह

हमारे प्रांत के पांडुवंशी १२ गोत्रों के अंतर्गत अनेकों कुलों में विभाजित हैं। उनके कुलों के नाम वृक्ष, लता, जीव-जंतु आदि के नामों पर पाए जाते हैं। समगोत्रियों में विवाह करना निषिद्ध है, किंतु ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों के साथ विवाह होते हैं। यह प्रथा तो हिंदुओं के अंतर्गत अनेकों जातियों में प्रचलित है। लड़के-लड़कियों का विवाह-संबंध प्रायः माता-पिता तय करते हैं। प्रेम-विवाह बहुत ही कम होते हैं, क्योंकि इनमें भी बहुत-से बाल-विवाह होते हैं। वाग्दान (सगाई) के अवसर पर, अर्थात् विवाह तय करने के लिये, लड़के का पिता दो बोतल धान की शराब और ७ रुपए लेकर लड़कीवाले के यहाँ पहुँचता है। वहाँ वह बिरादरीवालों को बुलवाता है। सभी लोग मिलकर विवाह की सारी बातें तय करते हैं। सब कुछ तय हो जाने पर लड़के का पिता १०-१५ दिन के लिये लड़की को घर लिवा ले जाता है। लड़की ससुर के यहाँ रहकर सारा काम-काज करती है। इसके बाद लड़के का पिता उस लड़की को पिता के घर पहुँचा आता है। उस समय लड़की का पिता अपने समधी को दो बोतल शराब और पाँच रुपए बदले में देता है, और बिरादरीवालों के सामने वह लड़की नई चूड़ियाँ पहनती है। रात्रि में भोज और नाच-गाना होता है। विवाह की तिथि इसी समय निश्चित होती है। सगाई हो जाने पर लड़के का पिता लड़की को फिर घर लिवा ले जाता है। यदि लड़की के छोटी बहन हुई, तो वह भी साथ जाती है। जब लड़की घर पहुँचती है, तब वह जोड़े के सहित एक पाट पर खड़ी होती है। घर की सुहागिन स्त्री उन दोनो के पैर धोकर घर के भीतर लिवा ले जाती है। शाम को लड़केवाले के यहाँ जाति-भोज

होता है। ५-६ दिनों बाद लड़का लड़की को लेकर ससुराल पहुँचता है। साथ में वह अपने गृह से कुछ नाज, वस्त्र और शराब ले जाता है। ४-५ दिन लड़के को घर में रखकर ससुर उसे कुछ उपहार के सहित बिदा कर देता है।

विवाह की तिथि निश्चय करने के लिये घर का सयाना लड़कीवाले के यहाँ शराब, सरसों, हल्दी आदि लेकर पहुँचता है, और वहाँ उसकी पहुनाई होती है। बिरादरीवाले एकत्र होकर विवाह की तिथि निश्चित करते हैं। इनके यहाँ विवाह अगहन, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठ के सोमवार, बुधवार और शुक्रवार को होते हैं। धनिक लोग पंडित का उपयोग करते हैं, किंतु सर्व-साधारण के यहाँ सुहागिन स्त्रियाँ और ग्राम का मुखिया विवाह के सारे कार्य निपटाते हैं। नियत लग्न पर लड़केवाले बरात सजाकर लड़कीवाले के यहाँ पहुँचते हैं। उनका प्रबंध लड़कीवाला करता है। द्वारचार के समय दोनो समधी आँगन में परस्पर मिल-जुलकर एक ही कंबल पर बैठ जाते हैं। कुछ समय बाद वह अपने दामाद को मंडप में लिवा ले जाता है। उस समय लड़कीवाले की ओर से दो हाँडो शराब, लड़की और उसकी बहनों के लिये साड़ियाँ, सास के लिये दो रुपए भेंट के, मामा के लिये एक धोती और एक रुपया नक़द देना आवश्यक है। वर-वधू को पीले वस्त्र पहनाकर मंडप में लाते हैं। लड़की का सिर खुला रहता है। भावज गाँठ बाँधती है, जिसका नेग एक रुपया है। मंडप के मध्य में एक स्तंभ गड़ा रहता है, जिसकी परिक्रमा मध्य में भावज खड़ी होकर कराती है। परिक्रमा के समय आगे लड़की, मध्य में भौजाई और पीछे लड़का रहता है। भाँवरें हो जाने पर भावज वधू की माँग में सिंदूर लगाती है। उसी समय लड़के का मामा या भाई आकर वधू का सिर ढक देता है। यह होने पर भावज वर और वधू को खिचड़ी खिलाती है। ये ही विवाह की मुख्य रस्में हैं। बरातियों को खिला-पिलाकर दूसरे ही दिन लड़की के सहित बिदा कर देते हैं।

मृतक-संस्कार

ये लोग मृतक को प्रायः जलाते हैं, किंतु ग़रीबी के कारण कुछ लोग गाड़ते भी हैं। मुर्दा उठानेवाले को प्रायः १० दिन का सूतक रहता है। दसवें दिन लोग अपना घर साफ़ करके शुद्ध होते हैं। मर्दों के लिये मुंडन कराना आवश्यक है। उसी दिन एक मुर्ग़ी मारकर उसका रक्त प्रत्येक कंधा देनेवाला अपने कंधे पर लगाता है। मृतक-संस्कार-संबंधी अन्य बातों में इस जाति ने भी शूद्र-जाति के संस्कार अपना लिए हैं।

अन्य बातें

हिंदू-भूमियों के दो त्योहार प्रधान हैं—(१) करमा और (२) होली। करमा का त्योहार कुँवार की एकादशी को करते हैं। उस दिन लोग दिन-भर उपवास करके रात्रि में कुम्हड़े का साग और रोटी खाते हैं। शराब पीकर लोग रात्रि-भर नाचते-गाते हैं। मर्द बड़े-बड़े माँदर (ढोल) लेकर खड़े होते हैं, और सामने एक क़तार में औरतें खड़ी होकर, एक दूसरे का हाथ पकड़कर, झुक-झुककर गाती हुई मर्दों की तरफ़ बढ़ती हैं। और, जब औरतें गाती हुई बढ़ती हैं, तब मर्द माँदर बजाते हुए चार-छ क़दम पीछे हटते हैं। इसी क्रम से बाजे के ठेके पर स्त्री और पुरुष, दोनो नाचते-गाते हैं। इन लोगों की बोली छत्तीसगढ़ी हो जाने से इनके गीत प्रायः हिंदी (छत्तीसगढ़ी) में होते हैं। क्वाँरी कन्याएँ ऐसे समारोह में सिर खोलकर नाचती-गाती हैं।

छत्तीसगढ़ में करमसेन (करमा) देवता का पूजन अन्य हिंदू भादों सुदी ११ को करते हैं। लोग जवारा बोते हैं, और हफ़्ते-भर तक पूजन, उपवासादि करके यह उत्सव मनाते हैं। अंत में वह सामग्री नदी में प्रवाहित कर दी जाती है। करमा गीत कई प्रकार के होते हैं❀।

❀ करमा गीत

हाल राजा बंधो जोतले कदली कछारे।
काहे न हारपति हरवा बनाए; काहे न कुररी छोलाए।
सोने के हारपति हरवा बनाए; रूपेन कुररी छोलाए।

भूमियों का दूसरा त्योहार होली है। इस दिन भी वे लोग उपवास करके रात्रि में फलाहार करते हैं। कुछ लोग मांसाहार को भी नहीं छोड़ते। होली जलाकर, लोग शराब में मस्त होकर रात्रि-भर नाचते-गाते हैं। नाचनेवाले मर्द अपने हाथ में एक-एक डंडा लेकर गोलाकार खड़े होते हैं, और घूमते हुए, एक दूसरे के डंडे पर चोट करते हुए नाचते-गाते रहते हैं। यों तो इन लोगों ने भी हिंदुओं के सभी त्योहार अपना लिए हैं।

पहाड़ी-पांडुवंशी

पांडवों की एक शाखा आज भी जंगलों में आनंद करती है। उनका निर्वाह जंगली कंद-मूल-फल और जानवरों के मांस पर होता है। जंगली पदार्थों को बेचकर उससे अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। ये लोग तलैटी के लोगों से संपर्क भी कम रखते हैं। ये लोग अपने को आज भी हिंदू नहीं कहते। इनके विवाह-संस्कार, जनन-मरण तथा अन्य रस्में कोरबों से मिलती-जुलती हैं। ये लोग भी कई गोत्रों में विभाजित हैं।

ये लोग २०वीं सदी में भी हल से ज़मीन जोतना पाप समझते हैं।

डाही की खेती

जंगली जातियाँ दो प्रकार की खेती करती हैं—(१) बेवर और (२) डाही। और, दोनो तरीक़ों में कुछ अंतर पाया जाता है। बेवर का विवरण आगे दिया गया है। डाही की

बेला माँ हारपति हरवा बँधाए; भैंसन माँ कुररी चलाए।
भैंसन हारपति कुररी चलाए; बाँधेला केदली कछारे।
बाँधी बुँधाई के भएला सीयारे; बोय डाले मनरुचि धाने।
बोएला हारपति मनरुचि धान; उपजेला कुरंग पसेहरा।
न कहूँ मेघराजा बदली उनोरा; न कहूँ बुँदिया चुहाए।
मर जाये उरई रे मर जाये चिरई; मनई के कौन बिसाँते।
कर जोरे हारपति बिनती विनोव थावें; सुनो जनक महीपाले।
लेव-लेव राजा तुम हरवा बँधायला; मर जाये सबो संसारे।

खेती इस प्रकार होती है—फाल्गुन-मास में पहाड़ी भूमि या पहाड़ के ढालू चौरस स्थान के वृक्षों को न काटकर केवल डालियाँ छाँट डालते हैं, और वहीं उन्हें सुखाते हैं। ये सब सूख जाने पर वैशाख-ज्येष्ठ में उनको जला देते और सारी राख उसी खेत में फैला देते हैं। वर्षारंभ के पूर्व ही वे लोग उस भूमि में बितरी, मिझरी, चीना, अरहर, धान आदि बो देते हैं। ऐसी फ़सल को डाही कहते हैं। इस फ़सल से जो कुछ नाज हो जाता है, उसी पर वर्ष-भर तक वे निर्भर रहते हैं।

ये लोग पक्के शिकारी होते हैं। इनके हथियार धनुष फरसा, भाला और कुल्हाड़ी हैं। बाण चलाने का निशाना कभी नहीं चूकता। शिकार के तरीक़े कई तरह के होते हैं। जानवर के भागने के रास्ते पर दो-चार मनुष्य वृक्षों की आड़ में हथियार-सहित छिप जाते हैं। जानवर को १०-१५ मनुष्य हाँका करके पीछे से भगाते हैं। साथ में बाँसुरी या ढोल की आवाज़ से लोग पीछा करते हैं। वह पशु भागता है, किंतु नियत स्थान पर पहुँचने पर अन्य लोग आक्रमण करके उसे मार डालते हैं। यह आखेट का एक साधारण तरीक़ा है।

अन्य बातें

तालाब की मछलियाँ मारने का इन्हें अच्छा शौक़ है। मछलियों को मारने के हेतु पहले ये लोग उस तालाब में थूहर-वृक्ष का दूध छोड़ देते हैं, जिससे वह पानी मछलियों के लिये विषैला हो जाता है, और वहाँ की मछलियाँ इससे मर जाती और बाद में उतराने लगती हैं। लोग उन्हें चुनकर घर ले आते हैं।

इस शिकार का एक दूसरा तरीक़ा भी है। रात्रि में मशालें जलाकर पानी में पैठते हैं। हाथ में एक डंडा रहता है। प्रकाश के कारण मछलियाँ ऊपर आकर तैरती हैं। तब ये लोग डंडे से उन पर चोटें करते हैं, जिससे मछलियाँ मर जाती हैं। उनको एकत्र करके ये लोग घर आ जाते हैं।

प्रायः प्रत्येक शिकार में जाते समय ये लोग अपने एक देवता 'मुसवासी' की मनौती करते हैं। इस देव के भोग को 'पूर्वा' कहते हैं। शिकार के जानवर के सब अंगों का थोड़ा-सा मांस लेकर, आग में भूनकर उसे पत्तों से दबा देते हैं। यह प्रसाद देवता के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं खाता। यही 'पूर्वा-प्रसाद' है।

फ़सल कट जाने पर ये लोग 'नया खाई' का त्योहार करते हैं। उसी दिन से नवीन अन्न खाना शुरू करते हैं। शराब पीकर आनंदोत्सव मनाते हैं। इनका एक देवता 'बढ़ावन' प्रायः वृक्षों के तले निवास करता है। उसके प्रसाद में ये लोग बकरा मारकर उसकी खाल तक खा जाते हैं। उनका विश्वास है, डाइन या भूत-प्रेतों का निवास पीपल और वट-वृक्ष पर रहता है। इनके पूजन में ये लोग सिंदूर, टिकुली, हल्दी, चूड़ियाँ और नारियल चढ़ाते हैं। ये लोग अधिकांश बीमारियाँ झाड़-फूँककर अच्छी कर लेने का यत्न करते हैं। इसके लिये बैगा या गुनियाई बुलवाए जाते हैं। प्रायः बैगा बीमार के समीप बैठकर, राख लेकर मंत्रों से बीमारी हटाने का यत्न करता है। वह एक सूप में एक दीपक जलाकर मंत्र पढ़ता हुआ सूप हिलाता है। इस अनुष्ठान से रोगी न अच्छा हुआ, तो समझ लेते हैं कि वह मर जायगा, और फिर उसे कोई दवा नहीं दी जाती। यों तो समस्त देहाती भारतवासियों का आज भी जादू-टोने पर पूरा विश्वास है।

द्राविड़ी-जातियाँ रजस्वला स्त्रियों के स्पर्शास्पर्श-विवेक पर अधिक लक्ष्य रखने के कारण अपने मकानों में प्रायः दो द्वार रखती हैं। दूसरा द्वार प्रायः रजस्वला स्त्रियों के आने-जाने के लिये रहता है। ये उसकी छाया तक पड़ना ख़राब समझती हैं। रजस्वला पाँच दिन तक अशौच में रहती है। वह अलग मिट्टी के पात्र में खाती और भूमि पर सोती है। गृह-कार्यों में उसका कोई उपयोग नहीं होता। यदि कोई भूमिया रजस्वला स्त्री को स्पर्श कर ले, तो उसे २१

दिन का अशौच रहता है, और वह देव-कार्यों में भाग नहीं ले सकता।

गर्भवती स्त्रियाँ प्रायः मिर्च और खटाई नहीं खातीं। बच्चा होने पर स्त्री एक वर्ष तक हरी भाजी नहीं खाती, क्योंकि उससे दूध कम हो जाता है। बच्चे को चावल के भूसे का उबटन लगाया जाता है। लड़के का पिता स्वयं तेज़ छुरी से नाल काटकर, किनारी आदि मिट्टी के घड़े में बंद कर छींद-वृक्ष के नीचे गाड़ आता है। १२वें दिन नामकरण के लिये बैगा बुलवाया जाता है। वह इस बात की जाँच करता है कि उस घर के किस पुरखा ने अवतार लिया है। बैगा मंत्र पढ़ता हुआ प्रत्येक पुरखा के नाम पर थोड़े-से चावल अलग रखता जाता है, और जिस पुरखा के नाम पर रक्खे हुए चावल पूरे तीन हिस्सों में बँट जायँ, वही नाम उस बालक का रक्खा जाता है। इन लोगों के पूजन में बकरे और मुर्गे प्रचुर संख्या में मारे जाते हैं।

पांडु-वंशियों का रूप-रंग और शरीर की बनावट उराँवों से मिलती-जुलती है। ये लोग हृष्ट-पुष्ट और ५। फ़ीट के होते हैं। इनमें मुंडारी-वंश के सभी चिह्न मिलते हैं। वर्तमान समय में इनकी भी आर्थिक दशा शोचनीय है। प्रायः किसानी और मज़दूरी करने लगे हैं।

भरिया

विद्वान् लोग इस जाति को भूमियों की एक शाखा मानते हैं। भरिया अपने को हिंदू ही कहते हैं। इनकी जन-संख्या ४६,६५७ है, जिनमें से २८,६८५ केवल जबलपुर-ज़िले में बसते हैं। इनके अतिरिक्त १८,६६१ पहाड़ी भरिया मंडला, छिंदवाड़ा और बिलासपुर-ज़िलों में भी पाए जाते हैं। भरिया-जाति की मूल-बोली अब लुप्त हो चुकी है, इसलिये उसका पता लगाना कठिन-सा है, क्योंकि यह जाति अब हिंदी-भाषा बोलती है।

इतिहास से पता चलता है कि युक्त प्रांत के पूर्वी भाग पर 'भर'-



भुइँयों का नाच



भीलों का समूह

जाति का राज्य था। इसलिये कुछ विद्वान् भर और भरिया को एक ही मानते हैं। जनश्रुति के अनुसार ये लोग भी अपने को 'पांडुवंशी' मानते हैं। कहते हैं, महाभारत के अवसर पर अर्जुन ने कौरवों से युद्ध करने के हेतु मुट्ठी-भर भर-नामक तृण से इस जाति को उत्पन्न किया, और तभी से ये लोग 'भर-वंशी' कहलाने लगे। ये लोग अपना मूल-स्थान महोबा से लेकर बांधवगढ़ तक मानते हैं। संभव है, यह प्रांत किसी काल में 'भर-प्रांत' कहलाता हो। कुछ लोग यह अनुमान करते हैं कि त्रिपुरी के कलचुरि-नरेश राजा कर्ण (ई० सन् १०४०-८०) इसी (भर-वंश) के होंगे। पर ऐतिहासिक कसौटी पर यह बात नहीं जँचती। यह संभव है कि त्रिपुरी की सेना में भर-जाति के सैनिक अधिक हों, पर कलचुरि और भरिया एक नहीं हो सकते।

ये लोग अब तो पूर्ण रूप से हिंदू ही हैं। जबलपुर की ओर ग्राम-देवताओं के पुजारी ये ही लोग होते हैं। भरिया वास्तव में भार ढोने में मज़बूत हैं, और खदानों में मज़दूरी करके पेट पालते हैं। इनमें २१ गोत्र प्रचलित हैं।

सप्तम किरण

भीलों का विवरण

जन-संख्या (इस प्रांत में) ३०,१६६

प्राचीन विवरण

अब यह जाति अपने को हिंदू ही कहती है। इस जाति की अधिकता नीमाड़, खानदेश, राजस्थान और गुजरात में है। विद्वानों ने इस जाति के विषय में बहुत कुछ लिखा है। कहते हैं, यह शब्द द्राविड़ी-भाषा के 'बिल' शब्द से आया है। प्रसिद्ध विद्वान् टालेमी ने इनको फिल्लिती (Phylitee) कहा है। भिल्ल या भील शब्द का प्रयोग बहुत पीछे का जान पड़ता है। सन् ६०० में संस्कृत-साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

"आभीर शाबरी चापि काष्ठपत्रोपजीविषु।"

काष्ठजीवी, आभीर और पत्रोपजीवीगण शाबरी-भाषा में बातचीत करते हैं। एक विद्वान् ने आभीर शब्द से भीर, भीरस् और भील शब्द खोज निकाला है। कहने का तात्पर्य यह कि भील ही आभीर हैं। प्राचीन काल में आभीर लोग लकड़ी संग्रह करके जीविका चलाते थे, और यह परंपरा आज भी देखने में आ जाती है। पर आभीरों को भील मान लेना सयुक्तिक नहीं। भिन्न-भिन्न पुराणों में व्याधों की अनेक कथाएँ हैं। उनमें व्याधों के रूप-रंग, खान-पान का जो विवरण पाया जाता है, उससे यह सिद्ध है कि व्याध और भील एक ही हो सकते हैं। भागवत के अनुसार यदुवंशी श्रीकृष्ण की मृत्यु एक व्याध के बाण से हुई थी। द्वारकाधीश कृष्ण की रानियों को (अर्जुन के साथ हस्तिनापुर जाते हुए) रास्ते

में व्याधों ने ही लूटा था। महाभारत में द्रोणाचार्य और उनके व्याध शिष्य की कथा मिलती है। उस व्याध ने द्रोण की मूर्ति सामने रखकर धनुर्विद्या सीखी थी, किंतु गुरु-दक्षिणा में उसे अँगूठा काटना पड़ा था। कहते हैं, इसी कारण यह जाति आज भी धनुष चलाने में अँगूठे का उपयोग नहीं करती। पुराने ज़माने से यह जाति आज तक परस्वापहरण और दस्युता में आमोद-प्रमोद करती हुई आ रही है।

इस जाति का आदि-स्थान, हमारे मतानुसार, राजस्थान के मेवाड़ की अरण्यमय भूमि है। यों तो समस्त राजस्थान और गुजरात के पहाड़ी अंचल में ये लोग पाए जाते हैं। किसी समय ये लोग मेवाड़ का शासन करते थे। इनका राज्य सीसोदियों ने पाया, और तब से आज तक मेवाड़ के राणाओं का राजतिलक भील सरदार द्वारा ही होता है। जब तक यह संस्कार नहीं होता, तब तक राज्याभिषेक सिद्ध नहीं होता। ये लोग वीर, साहसी और विश्वास-पात्र हैं। धनुष और बाण इस जाति का प्रधान शस्त्र और जीविका का साधन है। ये लोग आततायी पर जिस प्रकार रोष प्रकट करते हैं, उसी प्रकार शरणागत के प्रति अनुरक्त भी रहते हैं; अर्थात् सर्वस्व देकर आश्रित का भला करने में तत्पर रहते हैं। राजपूत पहाड़ी जातियों को जंगली समझते हैं, पर वे लोग अपने मालिक के लिये सर्वस्व देने को सदैव तत्पर रहते हैं।

मुसलमानों और मराठों के शासन-काल में ये लोग डकैती का भी व्यवसाय करते थे। इसलिये राज्य में शांति रखने के हेतु इन्हें कठोरता से दमन करना पड़ता था। पर उन शासकों ने पहाड़ी जातियों की जीविका का प्रश्न कभी नहीं सुलझाया। जीविका के हेतु उन्हें डकैती या अराजकता फैलाने का अवसर मिलता था। ये लोग भी यही मानते थे कि ईश्वर ने उन्हें डकैती, पथिकों को लूटने और मनुष्यों को मारने के लिये उत्पन्न किया है। अँगरेज़ी होते ही हमारे प्रांत में इनकी जीविका का प्रश्न सरकार ने सुलझाया। ये लोग कृषि करने की ओर

आकृष्ट किए गए, और सैकड़ों भीलों को कोतवाली का कार्य सौंपा गया। परिणाम यह हुआ कि पचास वर्ष में ये लोग अपनी परंपरा भूल गए, और अब ग़रीब किसान बनकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। किंतु रियासती प्रजा वास्तव में आज भी दरिद्रता में है। इनकी वर्तमान बोली में गुजराती और राजस्थानी शब्द हैं, और कहीं-कहीं कुछ छौंक मराठी-भाषा के शब्दों की है, किंतु ऐसे शब्द बहुत ही थोड़े हैं। इनकी आदि द्राविड़ी-भाषा का तो अब पता ही नहीं चलता।

पुराने भील अपनी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाते थे—"पुराने युग में एक समय भगवान् शंकर (महादेव) वनों में भ्रमण करते हुए थकित हो गए। सौभाग्य-वश उसी अरण्य में एक सुंदरी रहती थी। उसने महादेव का आदरातिथ्य करके उनकी सेवा की। महादेवजी उसके साथ कई दिन तक रहे, इसलिये उससे कई संतानें हुईं, जिनमें से एक पुत्र महान् कुरूप था। उसने एक दिन भगवान् के प्रिय वाहन नंदी को मार डाला। यह वृत्तांत पाते ही महादेव ने क्रोधित होकर उसे जंगल में खदेड़ दिया। उसने एक जंगली स्त्री से विवाह करके वहीं अपना जीवन व्यतीत किया, और उसी की संतानों में भील हैं।"

ये लोग अपने को महादेव का 'चोर' मानते हैं। प्रायः सभी पहाड़ी जातियों की उत्पत्ति की कथा एक समान है।

आप देखेंगे, प्रायः सभी पहाड़ी जातियों के गोत्र निकटवर्ती पहाड़, नदियों, वन-पशु, वन-वृक्ष और लताओं के नामों पर मिलते हैं। यही प्रकार भीलों के गोत्रों का है।

इनके कुल

इनके भी सैकड़ों गोत्र समस्त पश्चिमी भारत में पाए जाते हैं। हमारे प्रांत के भीलों के कुछ गोत्र इस प्रकार के हैं—जामुनिया, खोहनिया, आँवलिया, मेहदा, मोरी, घोड़मारया, मासरया, सनियान, घट्टिया, सोलिया, मोहरिया, मावली, सीसोदिया, पँवरिया के समान ६० गोत्र हैं। यह भी देखने में आता है कि प्रायः सभी पहाड़ी जातियों में

अन्य जातीय लोगों के संपर्क से कुछ वर्णसंकरी नाम मिलते हैं, अर्थात् दो जातियों के संयोग से एक तीसरी जाति निर्माण हो गई है। उदाहरणार्थ भीलों को ही लीजिए। राजपूत और भीलों के संयोग से जो संतानें हुईं, वे अपने को राजपूत कहती हैं। मुसलमानों से जो वर्णसंकरी जाति हुई, वह 'टदवी' कहलाती है। वे लोग कहते हैं, हम लोग औरंगज़ेब के समय में मुसलमान हुए हैं। इसी प्रकार कई गोंड-वंश के लोग मुसलमान कहलाते हैं। अब तो प्रायः सभी पहाड़ी जातियों में क्रिस्तान मिलते हैं।

इनके विवाह

भीलों का विवाह समगोत्र, माता के गोत्र और पितामही के गोत्र में नहीं होता। इनमें बाल-विवाह प्रायः कम होते हैं। माता-पिता को विवाह करने की चिंता कम रहती है। इनमें लड़के का पिता लड़की की मँगनी करता है। विवाह तय करने के लिये लड़के का पिता दो पात्रों में शराब लेकर लड़कीवाले के यहाँ जाता है। उस समय ग्राम के पंच आकर वधू-शुल्क का फ़ैसला करते हैं। साधारणतः ३० से ६० रुपए देने पर काम चल जाता है। आपसी सभी बातें तय हो जाने पर कन्या का पिता शराब के दोनो पात्र पत्तों से ढक देता है। इस समय का दस्तूर दो आने का है। लड़की का भाई आकर उन पत्तों को उलट देता है, और उसे दस्तूरी मिलती है। इसी को वे लोग 'सगरी' कहते हैं। सगरी का अर्थ वाग्दान है। कन्या का पिता एक भैंसा या बकरा मारकर खिलाता-पिलाता है। इनके रस्म-रिवाज हिंदुओं के-से हैं। इनके सभी प्रसंगों पर मद्य-मांस की प्रचुरता रहती है। वाग्दत्ता कन्या को जब कोई भील लेकर भाग जाता है, उस समय कन्या-पक्षवाले उससे बदला लेने में नहीं चूकते। जब तक पूरा बदला नहीं ले लिया जाता, तब तक मर्द चैन नहीं पाते। इसमें लोगों के घर-द्वार तबाह हो जाते हैं, और कई जानें जाती हैं। इसलिये यह जाति मानापमान की ओर सतर्क रहती है। यदि प्रेम-वश कोई भील-

युवती घर से भाग जाती है, तो भगानेवाले के घर पर वे लोग तुरंत ही धावा करते हैं। घरों में आग लगाकर, मनुष्यों और स्त्रियों का अपमान करके मारने में नहीं चूकते। कभी-कभी ऐसे झगड़े वर्षों तक चलते हैं। इनके अधिकतर झगड़े अब भी पंचायतों द्वारा निपटाए जाते हैं। पंचायत अपराधियों को दंड देती है। प्रायः पंचों को शराब-सहित भोज देना आवश्यक है।

सगरी के निपटने पर लड़के की ओर से लड़की के लिये (एक साड़ी, एक अँगरखी और एक कमरबंद) आभूषण भेजे जाते हैं। इस समय लड़की उन वस्तुओं को धारण करके पंचों के सम्मुख आती है। वहाँ ग्राम के स्त्री-पुरुष एकत्र किए जाते हैं। इसी समय लड़की का पिता अपने समधी से वधू-शुल्क (दहेज़) की रक़म लेता है। बाद में लोग खान-पान में लग जाते हैं। लग्न-तिथि पंचायत ही तय करती है। इनके विवाह माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ और अगहन में होते हैं, और विवाह के दिन सोमवार, बुधवार, शुक्रवार अच्छे समझे जाते हैं।

लग्न-तिथि पर बराती सज-धजकर, गाड़ियों में बैठकर लड़कीवाले के ग्राम में पहुँचते हैं। ग्राम की सीमा पर दोनो पक्ष के लोग एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं, और वहीं कन्या का पिता दामाद को तिलक कराकर जनवासे में लिवा ले• जाता है। बरात या तो सुंदर वृक्ष के नीचे या मकान में ठहराई जाती है, जहाँ पानी आदि का सुपास रहता है। प्रायः संध्या के समय बरात सजाकर वर मंडप में पहुँचता है। वहाँ पहुँचते ही वर अपने शस्त्र से मंडप में एक छिद्र बना देता है। उसी समय एक बकरे का बलिदान करना आवश्यक है। उस खून को स्पर्श करके वर मंडप के भीतर पहुँचता है। मंडप के मध्य में एक स्तंभ गाड़ दिया जाता है, जिसमें हरी डालियाँ लगी रहती हैं। गाँव का मुखिया या वृद्ध स्त्रियाँ ग़रीबों के यहाँ विवाह के संस्कार निपटा देती हैं। वर और वधू, दोनो हाथ पकड़कर उस स्तंभ की ७ बार परिक्रमा करते हैं। विवाह के दूसरे

या तीसरे दिन कन्या का पिता बरातियों को भोज देता है। समस्त बराती शराब पीकर भोज में सम्मिलित होते हैं। रात्रि-भर नाच-गाना होता रहता है। वर-वधू, दोनो एक अलग कमरे में रक्खे जाते हैं। दूसरे या तीसरे दिन कन्या को लेकर बराती घर वापस लौट जाते हैं। वहाँ पहुँचने पर लड़के का पिता समस्त ग्रामवालों को खिलाता-पिलाता है। विवाह की अन्य रस्में निमाड़ी ढंग की हैं।

विधवा-विवाह को ये लोग 'नातरा' कहते हैं। नातरा करने के लिये पुरुष को ४०-५० रुपए खर्च करने पड़ते हैं। पति के मरने पर ८वें दिन स्त्री चूड़ियाँ फोड़कर बाला उतार देती है। छोटा भाई प्रायः अपनी भावज को स्त्री बनाने का हक़दार समझा जाता है।

मृतक-संस्कार

धनिक भील मुर्दे को जलाते हैं, किंतु पहाड़ी इलाक़े में लोग गाड़ देते हैं। गाड़ने के समय ये लोग शव का मस्तक दक्षिण दिशा की ओर रखते हैं। पास ही प्रेत के लिये दही और चीनी मिलाकर भोजन देते हैं। शव-संस्कार कर आने पर गाँव के प्रत्येक घर से एक-एक रोटी आती है। घरवाले उसी को खाते हैं, अर्थात् उस दिन घर में चूल्हा नहीं जलाया जाता। तीसरे दिन मृतात्मा को भोजन अर्पण करते हैं। १२वें दिन मृतक के सारे कर्म उनका भोपा या ओझा घर आकर कराता है। इस कर्म को 'काट' कहते हैं। जाति-भोज और शराब आदि में लगभग २००-३०० रुपए खर्च हो जाते हैं। इस अवसर पर दो भील पलाश की लकड़ी से खँजड़ी बजाते रहते हैं। इसके प्रभाव से मृतात्मा भोपा के शरीर में प्रवेश करता है। भोपा जो कुछ माँगता है, घरवाले उसे पूरा करने का यत्न करते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि मृतात्मा मरने के समय जो कुछ प्रकट करता है, प्रायः उससे मिलती-जुलती बातें भोपा कहता है। माँगी हुई वस्तु को पुरोहित सूँघकर फेंक देता है। यह हो जाने पर उनका पुरोहित मृतक के पितरों का आह्वान करके उन्हें घी-दूध

आदि भोज्य पदार्थों से तृप्त करता है। उसी दिन शाम को भीलों के योगी पहुँचते हैं, और वे भी मंत्रों से पितरों को तृप्त करते हैं। इन सबको कुछ देकर घरवाला बिदा करता है। इनके बिदा हो जाने के बाद जातीय भोज में मद्य-मांस खूब चलता है। रात्रि-भर (यदि मृतात्मा वृद्ध हुआ) नाच और गाना करते हैं।

ये लोग हिंदू-देव और देवियों को पूजते हैं। नीमाड़ में ये लोग खँडोबा को पूजते हैं। जादू-टोना और भूतों-प्रेतों पर अटूट श्रद्धा रहती है। बीमारी के अवसर पर जानकार घर आकर झाड़-फूँक और मनौती करता है। इनके पूजन में पशु-बलि करना आवश्यक है। प्रायः भैंसे, बकरे और मुर्गियाँ ही मारी जाती हैं। इनमें हिंदुओं की बहुत-सी बातें घुस गई हैं, इसलिये हम उन्हें दोहराना आवश्यक नहीं समझते।

अन्य बातें

भील परस्वापहरण और दस्युता में प्रमोद का अनुभव करते हैं, किंतु स्त्रियाँ उतनी ही परोपकारिणी और दयालुता दिखाने का अनुराग रखती हैं। इस जाति की औसतन् ऊँचाई ५।। फ़ीट, वर्ण गहरा श्याम, नाक सामने चौड़ी फैली हुई, ओंठ कुछ मोटे, हाथ छोटे, पैरों की बनावट सुडौल और कष्टसहिष्णु होते हैं। केश रखने के ये शौक़ीन हैं। स्त्रियाँ स्वर्णाकार और देखने में उच्च जातियों की अपेक्षा कुरूप होती हैं। सभ्रांत महिलाएँ पैर से घुटने तक पीतल या चाँदी के कड़े पहनती हैं। इस जाति की स्त्रियाँ अन्य पहाड़ी जातियों की स्त्रियों के समान अब छातियाँ खुली नहीं रखतीं।

ये लोग गाय को पवित्र मानते हैं। शूकर और गाय-बैलों को छोड़कर सभी जानवरों का मांस खाते हैं। शराब इस जाति में पवित्र समझी जाती है। जंगली कंद, मूल और फलों से पूर्ण परिचित होते हैं। वास्तव में इन्हें 'वनपुत्र' कहना चाहिए। जंगली रास्ते और पहाड़ की चोटियों पर चढ़ने में चपल होते हैं। सरकारी प्रबंध से प्राचीन काल में

जिस स्वतंत्रता से ये लोग वनों में विचरण करते थे, अब नहीं करने पाते, इसलिये अब ग्रामों में बसते हैं। चोरी से शराब तैयार करने के मामले इन पर प्रायः चला ही करते हैं।

अष्टम किरण

उराँव (मुंडा)

हिंदू उराँव—५६,२२६

पहाड़ी उराँव—५३,२६६

मुंडाओं की एक शाखा उराँव है। इनकी अधिकतर आबादी छत्तीसगढ़ और उड़ियाने में है। मिशनरियों के सहस्रों उराँवों को क्रिस्तान बना लेने से अब इनकी जन-संख्या घटती जा रही है।

प्रारंभिक परिचय

सन् ३५ से मध्यप्रांत की रियासतें अलग कर देने से अब इस प्रांत में उराँवों की संख्या १०-१२ सहस्र से अधिक नहीं है। ये लोग अपने को 'कुरख' कहते हैं। फ़ादर डेहन ने इस जाति पर खोज-पूर्ण निबंध लिखा है। वह अनुमान करते हैं कि यह जाति कर्नाटक की ओर से यहाँ आकर बसी है। उस समय ये लोग तीन खूँटों (श्रेणियों) में विभक्त थे—१ मुंडा, २ पाहन और ३ महत्तो। किसी समय में उक्त तीनो के पूर्वज एक ही थे। हमारे प्रांत में उराँवों के दो प्रधान भेद कुरख और किसान हैं। बंगाल और उड़ियाने की ओर ५ श्रेणी के हैं—वरग, धानक, खरिया, खेंडरो और मुंडा। ये लोग ७३ गोत्रों में विभक्त हैं*, और उन गोत्रों के नाम वृक्ष, लता, पशु-पक्षियों के नामों पर ही पाए जाते हैं।

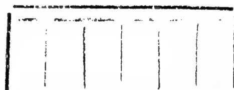
---

* गोत्रों के नाम जैसे तिरकी (चुहिया), एक्का (कछुआ), लाकड़ा (लकड़बग्घा), बाघ, गेडे (हंस), खोएपा (जंगली कुत्ता), मिनकी (मछली), धिर्रा (गिलहरी) आदि।

इन लोगों के पहाड़ी मकान प्रायः छोटे, घास-फूस के होते हैं। इनके जंगली ग्रामों में एक 'धुमकुरिया' बनाई जाती है।

धुमकुरिया

अब तो यह कहानी-सी जान पड़ती है, किंतु सिरगुजा-रियासत के जंगली अंचल में कहीं-कहीं आज भी स्थित है। उस कुटिया में प्राय: अविवाहित बालक और बालिकाएँ रात्रि में सोती थीं, या लड़कियाँ ग्राम की विधवाओं के यहाँ रात्रि-भर रहती थीं। पाँच-छ वर्ष की अवस्था होने पर प्रत्येक उराँव बालक के बाएँ दंड पर अग्नि द्वारा जलाकर यह चिह्न बनाना आवश्यक है—



इसी प्रकार प्रत्येक बालिका के मस्तक पर यह चिह्न बनाते हैं —



यह इस जाति का एक संस्कार है। यह संस्कार होने पर लड़के और लड़कियाँ धुमकुरिया में सोने के लिये जाने लगती हैं। यहाँ की बातें प्रकट करना पाप समझा जाता है। प्रायः लड़के और लड़कियों के विवाह ऐसे स्थानों में निश्चित हो जाते हैं। युवक और युवतियाँ, दोनो मिलकर, यहाँ गाना-बजाना करके मनोरंजन किया करते हैं। कर्नल डाल्टन ने इस संबंध में रोचक वर्णन लिखा है। पर वे बातें सब भूतकाल की हो गई हैं, अब तो कभी-कभी कहानी के तौर पर प्रेम-कहानी सुनने को मिल जाती है।

पहाड़ी जातियों में उराँव प्रायः ग्राम के ग्राम में विवाह-संबंध नहीं करते। समगोत्रियों में विवाह न होने से प्रायः माता-पिता विवाह-संबंध तय करते हैं। लड़के का विवाह प्रायः

विवाह-संबंध

१६ वर्ष के ऊपर और कन्या का १४ वर्ष के बाद ही होता है। यह भी देखने में आता है कि नाच-उत्सव या मेले में युवक अपने पसंद की

युवती को चुनकर भावी पत्नी का निर्वाचन करता है। लड़की पसंद आने पर लड़के का पिता वधू-शुल्क निश्चित करने के लिये लड़कीवाले के यहाँ पहुँचता है। यह कार्य ४ मन नाज और पाँच रुपए में निपट जाता है। इसी समय गाँव में बिरादरीवाले एकत्र होते हैं। उस समय लड़की सिर पर शराब की एक हँड़िया रखकर वहाँ आती है। भावी ससुर उस हँडिया को उतारकर उसे अपनी छाती से लगाता है। उस समय लड़की को एक रुपया नेग का मिलता है। दावत समाप्त होने तक लड़की ससुर के पास बैठी रहती है। लोग शराब पीकर मस्त हो जाते और खाने के समय इतना शोर मचाते हैं कि एक को दूसरे की बात सुनाई नहीं देती। यह रस्म 'पान-बंधी' (सगाई) कहलाती है।

सगाई के पश्चात् विवाह की तिथि सुविधानुसार पंच निश्चित करते हैं। खेती-किसानी निपट जाने पर ही इनके यहाँ विवाहों की धूम रहती है। नियत समय पर लड़केवाले बरात सजाकर (स्त्री और पुरुष, दोनो ही शस्त्रों से सज्जित होकर) लड़कीवाले के ग्राम को रवाना हो जाते हैं। ग्राम के निकट पहुँचने पर बरात के आने का समाचार सुनते ही लड़की-वाले स्त्री - बच्चों - सहित हथियारों से सज्जित होकर ग्राम के बाहर निकल आते हैं। वर और वधू, दोनो पीत वस्त्र पहने हुए अपने किसी रिश्तेदार की गोद में चढ़े रहते हैं। ग्राम के निकट एक मैदान में दोनो पक्ष के लोग आमने-सामने खड़े रहते हैं। ढोल और बाँसुरी की आवाज़ से सारे गाँव में धूम मच जाती है। इसके बाद दोनो पक्ष के लोग हथि-यारों से आपस में युद्ध का एक प्रहसन करते हैं, और यह नक़ली युद्ध आगे चलकर नाच के रूप में परिवर्तित हो जाता है। थोड़ी देर तक नाचने-कूदने के बाद लड़कीवाले मेहमानों को ग्राम में लिवा लाते हैं। यही इनकी आगवानी कहलाती है। जनवासे में मेहमानों का यथाशक्ति आदरातिथ्य भोज-शराब-पान से होता है। रात्रि-भर माँदर (ढोल) के सहारे बराती नाचते-गाते हैं।

प्रातः होते ही कन्या को लेकर उसकी माता झरने पर पहुँचकर एक मिट्टी के कलसे में जल लाती है। साथ में एक रोटी ले जाती है। वहाँ से आने पर वर और वधू, दोनो को हल्दी-तेलादि लगवाकर स्नान कराते हैं। दोपहर को भोजन हो चुकने पर गोधूलि के अवसर पर उस जोड़ी को पीत वस्त्र पहनाकर मंडप में लाते हैं। दोनो पक्ष के मेहमान वहाँ एकत्र होते हैं। मंडप में हल का जुवा, तृण और एक सिल रख दी जाती है, और उसी सिल पर वर और वधू को खड़ा करके उस जोड़े को एक लंबे कपड़े से लपेट देते हैं। केवल हाथ-पैर खुले रहते हैं। मंडप में वर और वधू, दोनो सुहागिनों से घिरे रहते हैं। ज्यों ही वह जोड़ा सिल पर लाकर खड़ा किया गया, त्यों ही एक सुहागिन स्त्री एक कटोरे में सिंदूर लेकर अग्रसर होती है, जिससे वर वधू के मस्तक में सिंदूर की तीन रेखा खींच देता है। उसी भाँति कन्या भी तीन रेखा वर के कपाल में लगा देती है। सिंदूर चढ़ने पर सुहागिनें हरी डाली से कलसे का जल सिंचन करती हैं, और यह कहती जाती हैं कि "विवाह हो गया, विवाह हो गया।" बाहर लोग ढोल आदि बजाना शुरू कर देते हैं। पश्चात् लपेटा हुआ कपड़ा पृथक् कर दिया जाता है, और वर-वधू को कपड़े बदलने के लिये घर के भीतर लिवा ले जाते हैं।

इधर बिछायत पर मेहमान पंच आकर बैठते हैं। उसी समय वर और वधू, दोनो आकर अदब के साथ बैठते हैं। फिर सुरा-पान-संस्कार प्रारंभ होता है। पंचायत का मुखिया उस जोड़े को इस प्रकार उपदेश देता है—"आज से यह तेरी स्त्री हो गई, और जीवन-पर्यंत इसका निर्वाह तुझे करना होगा। यदि कारण-वश वह लूली-लँगड़ी या अंधी हो जाय, तो भी उसका पालन करना होगा।" इसी प्रकार वह वधू से कहता है—"यह आज से तेरा पति है। यदि इसका हाथ-पैर टूट जाय, लूला-लँगड़ा होकर घर में पड़ा रहे, तो भी इसका तिरस्कार न करना। तू घर में जो कुछ पकावेगी, उसमें से दो हिस्सा पति को देकर

तीसरा तू खाना।" इस प्रकार की सिखावन देने पर मेहमान लोग दावत में लग जाते हैं। देवताओं के निमित्त कई मुर्गे या बकरे मारे जाते हैं। औसतन् प्रत्येक विवाह में ५०-६० रुपए एक-एक पक्ष के व्यय होते हैं। बरात दूसरे या तीसरे दिन बिदा हो जाती है। अब तो इन लोगों में बहुत कुछ हिंदूपन आ गया है। विधवा-विवाह और तलाक़ देना तो भारत के प्रायः सभी शूद्रादिकों में पाया जाता है।

इनमें मुर्दे को गाड़ना और जलाना, दोनो प्रथाएँ पाई जाती हैं।

जनन-मरण

मनुष्य के मरने की सूचना निकटवर्ती ग्रामों में ढोल बजाकर देते हैं। शव को श्मशान तक ले जाते समय चौराहे से दहन-स्थान तक चावल छिड़कते जाते हैं। जलाने या गाड़ने के समय मुर्दे के मुख में एक कौर पका हुआ अन्न, दो पैसे, उसके वस्त्रादि और चावल की हँडिया रख देते हैं। पैर प्रायः दक्षिण दिशा की ओर रहते हैं। १० दिन का सूतक समस्त कुटुंबी मनाते हैं। १०वें दिन सुअर या मुर्गी मारकर उसकी आँख, पूँछ, पैर, कान आदि अवयव काटकर गाड़ देते और दहन-स्थान पर जाकर श्रद्धा-सहित भात समर्पण करते हैं। जो मुर्दे जलाए जाते हैं, उनकी अस्थियाँ चुनकर घर ले आते और एकांत स्थान में सींके पर टाँग देते हैं। क्षौरादि करके लोग घर साफ़-सूफ़ करके शुद्ध होते हैं। बकरा या सुअर मारकर बिरादरीवालों का भोज होता है। बाद में अस्थि-विसर्जन-कार्य समाप्त होता है।

फ़सल काटकर ज्यों ही अन्न आदि बेचकर उराँवों के हाथ में पैसे आते हैं, त्यों ही उनके चैन के दिन शुरू हो जाते हैं। कुँवारे मुर्दे को छोड़कर अन्य मुर्दों को लोग क़ब्रों से उखाड़कर उसी स्थान पर उनको जलाते हैं। दूसरे दिन अस्थियाँ चुनकर घर ले आते हैं। घर की स्त्रियाँ उन अस्थियों को हल्दी और तेल लगाकर एक टोकनी में रखती हैं—साथ में प्रेत की एक मिट्टी की प्रतिमा भी। उस टोकनी को लेकर

घर के सब लोग नदी पर प्रवाह करने के हेतु पहुँचते हैं, साथ में अन्य रिश्तेदार भी रहते हैं। अस्थियाँ प्रवाहित करके लोग फिर से घर शुद्ध करते हैं, और रात्रि में मद्य-सहित दावत होती है। इस संस्कार का नाम 'हाड़बोरी' है। जब तक हाड़बोरी नहीं होती, तब तक घर के मंगल-कार्य नहीं होते। इसके बाद शुभ कार्यों का होना आरंभ होता है। इसलिये कई दिन तक उराँवों के ग्रामों में नाचने-गाने और माँदर की आवाज़ के सिवा और कुछ सुनाई नहीं देता।

प्रत्येक उराँव गृहस्थ पितृपूजन की ओर अधिक लक्ष्य रखता है। प्रायः प्रत्येक त्योहार पर सबसे प्रथम पितृपूजन करना आवश्यक है। नवीन चावल की फ़सल तैयार होते ही पितरों के नाम से एक मुर्गी चढ़ाते हैं। यह बलि पितरों को मिली या नहीं, इसकी जाँच होती है। कुछ चावल मुर्गियों के सामने फेंकते हैं। यदि उन्होंने चुग लिया, तो समझते हैं कि उसे पितरों ने ग्रहण कर लिया। पितृकार्यों में पूजन के निमित्त बैगा बुलवाया जाता है।

बच्चा पैदा होने पर ८-१० दिन में नामकरण-संस्कार होता है। उसी दिन लोग घर स्वच्छ करके नवीन मिट्टी के बरतन लाते हैं। बैगा आकर पितृपूजन कराता है। नाम रखने के समय घर का सयाना एक दीपक जलाकर, एक दोने में पानी और दूसरे में थोड़े-से चावल लेकर बैठता है। पानी के दोने में वह पुरखों के नाम लेकर चावल डालता है। जिस पुरखे के नाम पर दो चावल एकत्र हो जाते हैं, वही नाम उस बच्चे का रक्खा जाता है। शाम को बिरादरी का भोज होता है।

भारतवासियों के समान ये लोग जादू-टोना, भूत-प्रेत और चुड़ैलों पर विश्वास करते हैं। गुनियाई इस कार्य के लिये पूछे जाते हैं। चाहे वृद्ध हो या बालक, प्रत्येक बीमारी पर झाड़-फूँक होती ही है। जंगली औषधोपचार से ये लोग प्रायः सभी रोग अच्छे कर लेते हैं। टोनहिन स्त्रियों पर अक्सर ग्रामीण जनता ध्यान रखती है। कहा जाता है,

पुराने ज़माने में ऐसी स्त्रियाँ मरवा डाली जाती थीं। विपत्ति और बीमारी से मुक्त करानेवाला बैगा माना जाता है। वह अपने यजमान के यहाँ पहुँचकर, बलि आदि देकर भूत-प्रेतों को शांत करता है।

उराँवों का प्रधान देवता 'धरमा' लोगों को संकट से छुड़ाता है। उसकी मनौती में सफ़ेद मुर्गे की बलि दी जाती है। स्वर्ग को ये लोग 'मोरवा' कहते हैं। उनका विश्वास है, परमात्मा भले-बुरे कर्मों का फल अपने चपरासियों द्वारा देता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के दुःख उसके चपरासी हैं। आपत्ति आने पर प्रत्येक उराँव मनौती करते हुए कहता है—"हे परमात्मा, हमने अपनी मनौती पूरी कर दी, और तुम्हारे चपरासियों की दस्तूरी भी दे दी, इसलिये अब अपने दूतों को न भेजिए।" चोरदेवा, चुड़ैल और भूतदेवा (पिशाच) के पूजन का चलन ख़ूब है। इस काम में ओझा बुलवाए जाते हैं। ये लोग यही कार्य करके अपनी जीविका चलाते हैं। आप देखेंगे; भारत में 'नर-बलि' करने की प्रथा असुरों में बहुत पुरातन काल से चली आ रही है। ये लोग द्राविड़ी असुर होने से 'अन्नकुँवरि' या 'महाधनी' देवता को प्रसन्न करने के हेतु मनुष्य-वध किया करते थे, किंतु अँगरेज़ी क़ानून ने उस संस्कार को नष्ट कर दिया। फिर भी कभी-कभी पहाड़ी अंचलों में एक-आध घटना वर्ष में हो ही जाती है। हिंदुओं का संसर्ग होने से उनके कई हिंदू-देवता भी हैं, जिनका पूजन वे लोग नियम-पूर्वक करते हैं, किंतु जानवरों की बलि देना पूजन का प्रधान अंग रहता है।

देवता

यों तो हिंदुओं के त्योहार भी उराँव मनाते हैं, पर उनके तीन त्योहार प्रधान हैं—एप्रिल-मास में 'सरहुल' त्योहार, जब साग के वृक्षों में नवीन पुष्प लगते हैं, होता है। इस जाति का विश्वास है कि वसंत-ऋतु में सूर्य भगवान् और धरती माता का विवाह हुआ था। इसलिये प्रत्येक उराँव गृहस्थ सूर्य के नाम से सफ़ेद मुर्गा और धरती के नाम से मुर्गी चढ़ाता है। उस दिन उनका

त्योहार

पुजारी पाहन बैगा अपने यजमानों को लेकर जंगल जाता है । वहाँ 'सरना बूढ़ी' के नाम से पाँच मुर्गियाँ मारी जाती हैं । कहते हैं, ऐसा करने से वर्षा अच्छी होती है । लोग जंगल में ही खा-पीकर रात्रि व्यतीत करते हैं । दूसरे दिन साग-पुष्पों को लेकर घर लौट आते हैं । ग्राम के प्रत्येक घर की स्त्रियाँ दो दोने लेकर तैयार रहती हैं । एक में नीर और दूसरे में थोड़ी-सी शराब प्रसाद के रूप में दी जाती है । नीर गृह में सर्वत्र छिड़का जाता है, और 'भंडार भरपूर रहे' यह आशीर्वाद बैगा देता है । लोग अपने गृहों को साग-पुष्पों से सजाते हैं । रात्रि में नाच-गाना होता है ।

इसके थोड़े ही दिन बाद 'करमा' त्योहार होता है । उस दिन ग्राम के स्त्री-पुरुष अरण्यों में जाकर करमा-वृक्ष लाते और उसे ग्राम के अखाड़े या मैदान में गाड़ देते हैं । उस दिन मुर्गे, सुअर और बकरे मारकर लोग आनंद-पूर्वक पर्व मनाते हैं । रात्रि में शराब पीकर, करमा-वृक्ष को मध्य में रखकर स्त्री-पुरुष नाचते-गाते रहते हैं ।

फ़सल तैयार होने पर तीसरा त्योहार 'कन्हारी' होता है । कन्हारी मंगलवार को मनाया जाता है । लोग खेतों में धान की राशि तैयार करके उस पर जो मुर्गे देवता के नाम से मारे जाते हैं, उनका खून सींचते हैं । यह संस्कार किए बिना कोई किसान अन्न घर नहीं ले जाता । शाम को बैगा आकर महादेव का पूजन कराता है । शराब और बलिदान हो चुकने पर लोग खा-पीकर रात्रि-भर नाच-गाना करते हैं । पहाड़ी अनार्य जातियों का धार्मिक संस्कार बिना शराब और बलिदान के नहीं होता ।

ये लोग यात्राओं में जाने के शौक़ीन हैं । उसके लिये सभी अवस्था के स्त्री-पुरुष सजकर जाने में लालायित रहते हैं । ढोल और बाँसुरी की आवाज़ों से सारा जंगली इलाक़ा गूँज उठता है । प्रेमियों को अपनी-अपनी प्रेयसियों से मिलने-जुलने का यही आनंद-दायक अवसर मिलता है । दोपहर को प्रत्येक ग्राम के स्त्री-पुरुष और बच्चे एकत्र होकर, जुलूस

बनाकर यात्रा-स्थान पर पहुँचते हैं। साथ में हथियार, झंडे और बाजे रहते हैं। कहीं-कहीं लकड़ी के घोड़े सजाकर निकाले जाते हैं। यात्रा-स्थान पर पहुँचने पर लोग अपनी मित्र-मंडलियों में आनंद-मंगल करते हैं। इन लोगों का 'खरिया' नाच प्रसिद्ध है। ऐसे अवसर पर युवक-युवतियाँ अपना विवाह निश्चित करते हैं।

ये लोग भी शराब के बड़े प्रेमी होते हैं। किसी-किसी के यहाँ विवाह के अवसर पर २०० गैलन तक शराब उठ जाती है। सूर्यास्त से सूर्योदय तक इनका नाच होता है। कोल, उराँव और मुंडा, तीनो जातियों का नाच एक ही ढंग का होता है।

इस जाति के मर्दों की उँचाई औसतन् ४ फ़ीट ५ इंच होती है। रंग काला, शरीर सुदृढ़ और मांस-युक्त, मज़बूत होता है। ओंठ मोटे, केश कड़े और घने-मध्यम कपाल के होते हैं। औरतों की उँचाई पुरुषों से २-३ इंच कम रहती है। स्त्री और मर्द, दोनो सारे शरीर को भिन्न-भिन्न आकृतियों से गुदवाते हैं। स्त्रियों का काम एकमात्र दगज़ी साड़ी से चल जाता है। काँच की चूड़ियों के एवज़ में स्त्रियाँ पीतल या काँसे के कड़े हाथ-पैरों में पहनती हैं—गले में सुतिया और रंग-बिरंगी मणियों की माला। इनकी सर्व-साधारण आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। इनकी मूल-बोली क्रमशः लुप्त होती जा रही है।



उराँव



शवरी-वंशी परिवार

नवम किरण

शबर या संवरा

शबर, शंबरा, संवरा या सौंरा एक ही नस्ल के हैं। ये लोग बुंदेलखंड में सौंर कहलाते हैं। विद्वान् लोग मुंडारी-शाखा का दूसरा नाम शाबरी कहते हैं। इस विषय में खूब छान-बीन हो चुकी है। समस्त भारत में शाबरों की जन-संख्या ६ लाख के लगभग होगी, जिनमें से हमारे प्रांत में ८४,९७१ शबर-वंश की आबादी है।

प्राचीन विवरण

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में शबर-शब्द का प्रयोग 'प्रेत' के अर्थ में किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण-ग्रंथ के अनुसार कान्यकुब्जाधिपति विश्वामित्र द्वारा अभिशप्त संतानों के ये लोग वंशधर हैं। शाखायन, श्रौतसूत्र, महाभारत, रामायणादि ग्रंथों में इस जाति का कुछ-न-कुछ विवरण मिलता है। पुरातन कथानुसार वशिष्ठ की कामधेनु को जिस समय विश्वामित्र ने बलात्कार ले जाना चाहा, उस समय गौ की रक्षा के लिये ये लोग पैदा किए गए। इस पौराणिक कथा के अनुसार ये लोग हिंदू ही हैं। हिंदुओं ने इन जातियों को कभी अपने से पृथक् नहीं माना। गौड़वध-काव्य से पता चलता है कि शबर लोग विंध्यवासिनी देवी के उपासक थे, और उसके हेतु वे 'नर-बलि' का समारोह करते थे। उड़ियाने के शबरों की जनश्रुति है कि जगन्नाथपुरी का मंदिर बनाने तथा जगन्नाथ भगवान् का रथ खींचने के हेतु इस जाति की उत्पत्ति हुई है। प्रसिद्ध विद्वान् टालेमी ने इस जाति को 'सबरई' करके लिखा है। महाभारत में बभ्रुवाहन

की प्रसिद्ध कथा है। बभ्रुवाहन की माता शबर-जाति की और पिता अर्जुन था। भारतीय मंत्रशास्त्रों में शाबरी मंत्रों की विशेष प्रसिद्धि है। इस युग में ये मंत्र-तंत्र लुप्त-से हो गए हैं। आज भी महाकोशल में शबरों के मंत्रों पर लोगों का अधिक विश्वास है। प्रायः कहा जाता है—

सँवरा के पाँगे और रावत के बाँधे।

बुंदेलखंड की ओर सौंरा-नामक एक जाति बसती है। ये लोग अपने को हिंदू कहते हैं। पर जाँच करने से यह पता चलता है कि ये लोग शबर-वंश के ही हैं। ये लोग अपनी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार कहते हैं—"इस संसार को महादेव ने उत्पन्न किया। लोगों के खाने के लिये अन्न पैदा करने के हेतु भगवान् शंकर ने एक हल बनवाया। समस्त भूमि अरण्यमय होने से उसको साफ़ करने के हेतु भगवान् ने इस जाति को पैदा किया। शबर-जाति के मूल-पूर्वज को यह कार्य (खेत बनाना) सौंपा गया। जब खेत तैयार होने पर आया, तब शंकर को नंदी की जोड़ी के लिये दूसरे बैल की आवश्यकता पड़ी। कहते हैं, तब शंकर नंदी को शबर को सौंपकर दूसरा बैल खोज करने के हेतु गए। इधर शबरों का मूल-पुरुष खेत तैयार करते हुए क्षुधा से व्याकुल हो गया। वह विवेक त्यागकर उस नंदी को मारकर खा गया, और शंकर के भय से उसने उसकी हड्डियाँ आदि छिपा दीं। इधर शंकर दूसरा बैल लेकर पहुँच गए, पर उनका नंदी दिखलाई नहीं दिया। उन्होंने शबर से पूछा। पर उसने अनभिज्ञता प्रकट की। खोज करने पर उसकी अस्थियाँ मिलीं। उन पर अमृत छिड़ककर शंकर ने उसे सजीव कर दिया। नंदी ने सारा वृत्तांत निवेदन किया। शंकर को सारी बातें ज्ञात हो गईं। उन्होंने रुष्ट होकर शाप दिया कि तेरे वंशज सदैव असभ्य और दरिद्री होंगे।"

उत्पत्ति की कथा

इसी कारण वे लोग मानते हैं कि हम ऐसी अवस्था में हैं। ये लोग महादेव ही को मुख्य देवता मानते हैं।

बुंदेलखंड के सौंर अब तो पूर्ण रूप से हिंदू हो चुके हैं, और उनकी भाषा बुंदेली हिंदी है। दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) के शबरों में आदि-वासियों के बहुत-से लक्षण पाए जाते हैं। उनके लरिया और उड़िया दो प्रधान भेद हैं। काला पीठिया—शबर ही पुरी में जगन्नाथजी का रथ खींचते हैं। ये लोग यज्ञोपवीत धारण करते हैं, और मांसाहारी नहीं हैं। उत्तरीय सौंरों के कोई ५२ कुल (गोत्र) हैं। इधर छत्तीसगढ़ में ८० गोत्रों के लगभग शबर पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ उन कुलों के नाम इस प्रकार के हैं—बाघ, बगुला, खूँटिया, बेहरा, भरिया, हथिया, झरिया, जुवाड़ी, खरैया, मारकम, सूर्यवंशी, चंद्रवंशी, सोनैया आदि।

गोत्रादि

बुंदेलखंड जबलपुर आदि की ओर के सौंरों की बोली बुंदेली और रस्म-रिवाज हिंदुओं के समान हैं। उनमें पहाड़ी जातियों की झलक बहुत कम दिखाई देती है। छत्तीसगढ़ के शबरों में यद्यपि हिंदुत्व का अधिक प्रभाव है, तो भी उनमें पहाड़ीपन का आभास देखने में आ ही जाता है।

अन्य बातें

जोरिया-कुल के लोग विवाह के पूर्व कन्या का रजस्वला होना अच्छा नहीं समझते। यदि कारण-वश किसी कन्या का विवाह जल्दी न हो सका, तो भी वे लोग बाण या भाले के साथ भाँवरें फिराकर उसे विवाहित मान लेते हैं। इसी समय भाँवरों के लिये महुआ की लकड़ी का स्तंभ बनाया जाता है। भाँवरें हो जाने पर उस लड़की को घृत और तेल चिखाते और उस बाण या भाले को नदी में प्रवाहित कर देते हैं। पश्चात् सुविधानुसार उस कन्या का दुबारा विवाह होता है। विवाह की रस्में हिंदुओं के समान ही हैं।

कहीं-कहीं यह प्रथा देखी जाती है कि जब कन्या ससुराल जाती है, तब गृह-प्रवेश के पूर्व द्वार पर सप्तरेखा खींच दी जाती हैं। उन्हें लाँघ-कर नई बहू गृह-प्रवेश करती है। घर की स्त्रियाँ पीछे से चावल फेंकती

हैं। ऐसा करने से भूत-प्रेत जो साथ आते हैं, वे वापस लौट जाते हैं। शबर और सौंरों में विधवा-विवाह भी होता है। लरिया शबर इस समय के भोज को 'मरती-जीती का भात' नाम से संबोधित करते हैं। आर्थिक अवस्था के अनुसार ये लोग मुर्दे को गाड़ते और जलाते भी हैं। विलास-पुर-ज़िले के शबर १० वें दिन बकरा मारकर भोज करते हैं। धनिकों के यहाँ सारे संस्कार ब्राह्मणों द्वारा संपन्न होते हैं।

ये लोग अब हिंदू देवी-देवता पूजते हैं। जादू-टोने पर भी विश्वास है।

मंत्रों में शाबरी मंत्रों की प्रसिद्धता है, किंतु इस युग में वे सब लुप्त-से जान पड़ते हैं। इस जाति की आर्थिक दशा शोचनीय है। लोग प्रायः हरवाई या कुलीगीरी करते हैं।

दशम किरण

कोंध (कंध)

कोंध (कंध)-जाति की आबादी बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रांत में कुल मिलाकर लगभग ७ लाख के ऊपर है। ये लोग अपने को कुई या 'कुइँजू' कहते हैं। कोंड या खोंड का अर्थ तेलगू-भाषा में पहाड़ होता है। ये लोग पहाड़-प्रिय होते हैं, इसलिये संभवतः तेलगू-भाषी लोगों ने इनका यह नाम रख दिया हो। कुछ विद्वान् इस शब्द का अर्थ खंड या खांड से लगाते हैं। 'कुई' का अर्थ मनुष्य होता है। खोंड या गोंड तो एक ही नस्ल या वंश के जान पड़ते हैं।

जाति का परिचय

वास्तव में ये लोग भूमिया हैं। जनश्रुति से पता चलता है कि पुरातन काल में इस जाति का शासन इस प्रांत के पूर्वी हिस्से पर था। यही कारण है कि उड़ियाने के कुछ राजघरानों का राजतिलक ये लोग करते हैं। कालाहंडी के राजाओं का राज्याभिषेक, राजा केसरीसिंहजूदेव के समय तक, खोंड सरदार की गोद में बैठकर हुआ करता था, किंतु केसरीसिंहजू के समय से यह प्रथा बंद हो गई, क्योंकि पुराने राजा को गद्दी से उतारकर ब्रिटिश सरकार ने इनको गद्दी पर बिठलाया। इसी करण खोंड सरदार ने राजतिलक करने से इनकार किया। तभी से यह प्राचीन प्रथा बंद हो गई।

इनके दो भेद पहड़िया (कुटिया) और डिहरिया हैं। कुटिया कंध

गोत्र

अरण्यमय भाग के और डिहरिया समतल भूमि के वासी हैं। द्वितीय श्रेणी के कंध अनेकों कुलों में विभक्त हैं, जैसे राजखोंड, खोंड, दल, पोरखिया, कंधरा, गौरिया आदि। राजखोंड प्रायः भूमिपति हैं। कुटियों में भी अनेकों गोत्र हैं, जिनके नाम अधिकतर पशु, पक्षी, जंगल की वनस्पतियाँ और फलों पर ही हैं। राजखोंड अपना विवाह अन्य शाखाओं से करके उसे अपने में मिला लेते हैं, किंतु अपनी कन्या उन्हें नहीं देते। दल-गोत्रवाले अपने को दलमुदिया कहते हैं, और उनका व्यवसाय रजवाड़ों में सैनिक वृत्ति का है। पोरखियों में अब भैंसा मारने की प्रथा बंद होती जा रही है। कंधरा हल्दी की खेती करते हैं। जोगरिया मवेशी चराते हैं। इस प्रकार १२ कुलों से अधिक इनके कुल हैं। गोंडों के समान देवता-पूजन की संख्याओं पर भी इनके गोत्र हैं।

समगोत्रियों में, भाई-बंद होने से, विवाह-संबंध नहीं होता, किंतु काला-

रस्में

हंडी की ओर ये लोग ममेरी या फुफेरी बहनों के साथ ब्याह करते हैं। पुराने ज़माने में वधू-शुल्क में ये लोग १२ से २० जानवर (गाय, बैल, भैंस या भैंसा) देते थे, किंतु अब जानवरों की क़ीमत बहुत कुछ बढ़ जाने से केवल नेग-स्वरूप कुछ रुपया देते हैं। प्रायः २५ से ५० तक यह रक़म दी जाती है। विवाह की प्रथा अन्य जातियों के समान है। वर-वधू, दोनो को पीले वस्त्र पहनाकर किसी कुटुंबी के कंधे पर मंडप ले जाते हैं। मंडप में दोनो को खड़ा करके सूत से ७ फेरे बाँध देते हैं। पश्चात् एक मुर्गी मारकर उसका रक्त दोनो के लगा देते हैं। यह हो जाने पर एक गरम रोटी उन दोनो के गाल में स्पर्श करा दी जाती है। कहीं पर स्तंभ की ७ परिक्रमा कराते हैं। यह हो जाने पर वह जोड़ी रात्रि-भर अलग रहती है। सुबह होते ही वे तालाब पर पहुँचते हैं। स्नानादि करके वर धनुष से ७ रक्खे हुए कंडों को बेधता है। पश्चात् वर-वधू घर में वापस आकर देवताओं का पूजन

करते हैं। शाम को शराब और मांस के सहित मेहमानों की दावत होती है। भोजनोत्तर लोग गाने-बजाने और नाचने में मग्न होते हैं। इनमें भी आदिवासियों के समान प्रेम-विवाह, तलाक़ और विधवा-विवाह होते हैं। वाग्दान हो चुकने पर यदि लड़की का पिता उसका विवाह अन्य के साथ कर दे, तो हर्जाने के स्वरूप कुछ रक़म (पैसा मोली) देनी पड़ती है।

ये लोग अब तो प्रायः मुर्दा जलाते हैं। १०वें दिन घर की शुद्धि करके घरवाले मर्द मुंडन करवाते हैं। इस दिन मुर्गी चुगवाना अच्छा समझा जाता है। इससे प्रेतात्मा को शांति मिलती है। पितरों के नाम से भोजन दिया जाता है। रात्रि में बिरादरी की दावत होती है। पुत्रोत्सव पर ६वें दिन छठी-पूजन का उत्सव करते हैं। माता बालक के सम्मुख धनुष-बाण रख देती है। इससे युवावस्था में वह बालक इस कला में निपुण होता है, यह उनका विश्वास है। नामकरण-संस्कार भी उसी दिन घर का सयाना आदमी करता है। इस जाति का प्रधान देवता 'चोरसी' (पृथ्वी) है। प्रति ४-५ वर्ष में चोरसी देवी के नाम से महिष की बलि प्रत्येक गृहस्थ प्रायः करता ही है। पुरातन काल में ये लोग तारीपेलू देवी के नाम से नर-बलि चढ़ाते थे। किंतु अब तो यह पुरातन कथा रह गई है। ये लोग हिंदुओं के ही त्योहार मनाते हैं, जिनमें मांस, शराब और नाच की प्रधानता रहती है। आखेट में जाने के समय प्रत्येक गृहस्थ घर से बाहर निकलने के पूर्व सबसे प्रथम धनुष को पूजता है। इनका पूर्व-जन्म, जादू-टोना, भूत-प्रेत और प्रेतात्मा पर हिंदुओं के समान विश्वास है। इस जाति की बोली भी स्वतंत्र (द्राविड़ी-भाषा) है, और उसका निकट का संबंध तेलगू से है।

धनुहार

धनुहार-वंश के लोगों की जन-संख्या बिलासपुर-ज़िले में अधिक है।

इस प्रांत में हिंदू धनुहार ११,३४३ और ४,६१२ पहाड़ी हैं। रायगढ़, कोरिया आदि रियासतों में ये लोग बसते हैं। ५ सहस्र धनुहार बुलढाना-ज़िले में हैं, जिनकी भाषा मराठी है। धनुहार शब्द धनुषधर से निकला हुआ जान पड़ता है। यह जाति भी द्राविड़ी-वंश की है। ये लोग गोंड़, कंवर, भुइयों से मिलते-जुलते हैं। लोढ़ा का वंशज होने से ये लोग 'लोढ़िए' कहलाते हैं। इनके कई गोत्र हैं, जिनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं—सोनवारी, देशवारी, मनखई, तेलासी आदि। जिनको अपने गोत्र का पता नहीं, वे लोग अपने को 'कोसो' गोत्र का कहते हैं। ये लोग अधिकतर हिंदू हो गए हैं। इस वंश की मूल-भाषा का पता नहीं चलता। अब तो ये लोग छत्तीसगढ़ी हिंदी बोलते हैं।

पुराने ज़माने के लोग अपनी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाते थे—"एक जंगल में एक बाघिन ने अपनी माँद में एक लड़की और एक लड़का पाया। उसने उनका पालन किया। ये ही नागा लोढ़ा और नागी लोढ़िन के नाम से प्रसिद्ध हुए। युवावस्था में दोनो पति-पत्नी के समान रहने लगे, किंतु इनके वर्षों तक कोई संतान नहीं हुई। इसलिये नागा लोढ़ा ने बड़े देव की तपस्या की, जिससे देव ने प्रसन्न होकर ११ फल दिए। उन फलों को लोढ़िन ने खाया। परिणाम-स्वरूप उसके ११ पुत्र हुए। प्रत्येक पुत्र के हेतु १५ दिन के हिसाब से लोढ़िन ५॥ मास सोहर में रही। इसी कारण आज भी प्रत्येक धनुहार स्त्री ५॥ मास तक सोहर में रहती है।

"लोढ़िन के ११ पुत्रों के उपरांत १२ वाँ पुत्र धनुष-सहित पैदा हुआ, इसलिये उसके वंशज 'धनुषधर' कहलाए। उस धनुषधारी का नाम किरनकोट था। ये समस्त भाई एक साथ ही रहा करते थे। युवावस्था में ये लोग प्राय: जंगलों में आखेट किया करते थे। संयोग-वश एक दिन किरनकोट के अतिरिक्त सभी बंधु शिकार के लिये गए। अरण्य में पहुँचकर देखा कि वहाँ १२ ग्वाले और उनकी १२ बहनें हरिण और

साम्हरों को चरा रही हैं। उन्होंने उन जानवरों के मारने का यत्न किया, किंतु ग्वालों के प्रतिकार करने पर दोनो पक्ष झगड़े के लिये उद्यत हो गए। परिणाम यह हुआ कि ग्वालों ने उनको पकड़कर बंदी बना लिया। उधर विलंब हो जाने से किरनकोट उनकी तलाश के लिये घर से चल पड़ा। उसने जंगल में पहुँचकर अपने भाइयों को बंदिवास में देखा, तब तो उसने उनको लड़ने के लिये ललकारा, और उनको परास्त करके १२ ग्वालिनों को भाइयों के सहित घर ले गया। पश्चात् उन १२ भाइयों ने उन कन्याओं के साथ विवाह किया। किरनकोट की स्त्री का मसवासो थ, जिसकी संतान धनुहार हैं।"

इस कथा का तात्पर्य यही जान पड़ता है कि धनुहारों की उत्पत्ति ग्वालिनों से है। अस्तु। यह एक मिश्रित जाति जान पड़ती है। इनके रस्म-रिवाज छत्तीसगढ़ी हिंदुओं के समान नहीं हैं। ये लोग प्रायः किसानी और चाकरी करते हैं।

मध्य-प्रांत और बरार की आदि जातियाँ

जन-संख्या

जाति	१९०१	१९११	१९२१	१९३१
गोंड	१५,३७,५५२	१८,७०,०१८	१८,०६,५९०	२०,४९,७७७
कोरकू	१,२५,३६५	१,४९,५३७	१,३५,३५७	१,६७,८९७
कंवर	७१,१९९	९०,५०१	९०,०६३	१,११,२०३
हल्बा	६३,७९५	७३,४२०	८३,९४१	९२,२७५
कोल	५५,३६३	७६,४८५	९०,८८४	८३,२२८
अंध	३९,६७९	५२,३७८	५२,४१४	५८,५४९
बिंझवार	१२,६२५	४७,५८२	२८,२८४	५४,६०३
भरिया भूमिया	३१,५१२	५०,१२५	४८,६५७	५३,८१९
कोली	२८,०३८	३६,१४६	४०,८६६	४३,१३०
बैगा	२३,४७१	२७,२७४	२५,०७८	३२,००३
कोलभ	१५,७९९	२४,९७६	२३,७२१	३१,७१३
भील	२८,४१६	२७,२७४	२४,८५५	३०,३०३
थनवार	८,३९७	११,१८८	१२,०४६	१८,९२९
सवरा	२५,५३१	५६,९१३	५५,७०३	६७,११६
मैना	७,४५४	१४,५२२	११,५२३	१६,४४७
कवर	५०५	७,१८६	...	९,२४४
मझवार	...	६,४७३	७,१३६	९,२३१
मूँजिया	३,००१	६,९१३	६,३७३	७,६८९
उराँव	...	४,३२८	१७६	६,९५०
नगारची	...	६,१४८	...	६,२९९
खरिया	...	...	...	३,२४६
भुइँहार	...	१,८११	६६०	१,२५०
नगसिया	...	२१२	२६	१,१२२
सौंता	...	...	६४२	७०५
कोरवा	१०५	८७६	४४४	३८४

Note:— The fact that no total is shown against certain tribes in certain years merely indicates that they were not separately enumereted in those years or that it has not been possible to trace the figures.

BIBLIOGRAPHY

1. Religion and Folklore of Northern India. [William Crooke C. I. E.]
2. Census of India 1931. Vol. XII
3. The Tribes & Castes of the C.P.[in4 Vols.]
4. District Gazetteers C. P. & Berar.
5. Settlement Reports of the 1st Settlements [Chanda, Hoshangabad, Betul, Bilaspur, Nimar, Mandla]
6. The Highlands of Central India.
7. The Maria Gonds of Baster [W. V. Grigson I. C. S.]
8. The Baiga [V. Elwin.]
9. The Agaria [V. Elwin.]
10. The Oraons of Chota Nagpur.
11. The Religion and Customs of the Oraons.

परिशिष्ट (अ)

सन् १९४१ की मनुष्य-गणना के अनुसार मध्य-प्रांत और बरार का क्षेत्रफल ९८,५७५ वर्गमील है, जिसके अंतर्गत ११९ नगर, ३८,९१८ ग्राम तथा ३४,७४,८६१ मकान (देहाती मकानों की संख्या इसमें २,९७,९४५ सम्मिलित है।) हैं। नागपुर-कमिश्नरी के अंतर्गत नागपुर, वर्धा, चाँदा, छिंदवाड़ा और बैतूल-ज़िले हैं। जबलपुर-कमिश्नरी में जबलपुर, सागर, मंडला, हुशंगाबाद, नीमाड़। छत्तीसगढ़-कमिश्नरी में रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग। बरार में अमरावती, अकोला, यवतमाल और बुलडाना-ज़िले हैं।

प्रांत की जन-संख्या

प्रांत (कमिश्नरियाँ)	१९४१	१९३१	१९२१	१९११
मध्य-प्रांत-बरार	१,६८,१३,५८४	१,५३,२३,०५८	१,३७,४१,९५२	१,३७,५८,९९३
मध्य-प्रांत	१,३२,०८,७१८	१,१८,८१,२२०	१,०६,६६,६३६	१,०७,०१,८३१
जबलपुर-कमिश्नरी	२६,९१,११२	३३,४४,७७६	३१,०५,०८६	३१,९९,७२६
नागपुर ,,	३९,२४,९८५	३५,८९,२६६	३१,२१,२९०	३२,५०,९०१
छत्तीसगढ़ ,,	५५,९२,६२१	४९,४७,१७८	४४,४०,२६०	४२,५१,२०४
बरार ,,	३६,०४,८६६	३४,४१,८३८	३०,७५,३१६	३०,५७,५६२

सन् १९५१—प्रांत की जन-संख्या १,६८,१३,५८४ है, जिनमें नगरों की जन-संख्या २०,९३,७६७; देहाती जन-संख्या १,४७,१९,८१७ (मर्दों की संख्या ८४,३०,२८२; स्त्रियों की ८३,८३,३०२)

परिशिष्ट (ब)

धर्म के अनुसार जन-संख्या

हिंदुओं के अंतर्गत अनेकों संप्रदाय और जातियाँ होने से सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी में १३०० जातियों की गणना की गई थी। सन् ४१ की संख्या उपलब्ध नहीं। उक्त १३०० जातियों को २८० प्रमुख जातियों में बाँटा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा अन्य पेशेवर जातियों की संख्या इस प्रांत में सैकड़ों के ऊपर है। अछूतों की २१ प्रमुख जातियाँ हैं—जैसे बसोड़, बलाही, चमार, डाहोर, कतिया, खटिक, कैकारी, घसिया, डेवर, कोरी, डोम, मांग, मेहरा या महार, गाँडा, मेहतर, मोची, मादगी, पनका, परधान, सतनामी और माला। सवर्ण हिंदू ५४ प्रतिशत, अछूत १७ प्रतिशत, अरण्यवासी आदिवासी (हिंदू) १३ प्रतिशत और पहाड़ी ११ प्रतिशत के लगभग हैं। अरण्यवासियों में भी अनेकों पेशेवर जातियाँ हैं। सन् १९४१ की मर्दुमशुमारी इस प्रकार है—

प्रांत और जाति	जन-संख्या	पुरुष	स्त्रियाँ
मध्य-प्रांत और बरार	१,६८,१३,५८४	८४,३०,२८२	८३,८३,३०२
केवल मध्य-प्रांत	१,३२,०८,७१८	६५,९३,३७६	६६,१५,३४२
अछूत हिंदू	३०,५१,४१३	१५,१०,४२४	१५,४०,९८९
अन्य हिंदू	९८,८०,५८३	४९,७७,७४३	४९,०२,८४०
मुसलमान	७,८३,६९७	४,१०,५३१	३,७३,१६६
भारतीय ख्रिस्तान	४८,२६०	२४,१५६	२४,१०४
ऐंग्लो-इंडियन	४,५३८	२,३०३	२,२३५
अन्य ख्रिस्तान	५,७७१	३,४१६	२,३५५
सिक्ख	१४,९९६	९,५६५	५,४३१
जैन	८४,५९३	४४,०३६	४०,५५७
पारसी	२,०१४	१,०९०	९२४
बौद्ध	७०	६०	१०
यहूदी	२८५	१५६	१२९
अरण्यवासी (आदिवासी)	२९,३७,३६४	१४,४६,८०२	१४,९०,५६२
ब्राम्हो	९१	४५	४६
आर्य	३१,६५३	१६,३१९	१५,३३४